वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला का पुष्प नं. 60
ISBN 978-93-80353-22-7

नारी आलोक

(भाग-2)

– रचयित्री –
परमपूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि
श्री ज्ञानमती माताजी

भगवान शांतिनाथ जन्म, दीक्षा व निर्वाणकल्याणक दिवस—ज्येष्ठ कृ. चतुर्दशी, 11 जून 2010 को जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर में पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी द्वारा घोषित ''प्रथमाचार्य श्री शांतिसागर वर्ष'' के अन्तर्गत प्रकाशित

-प्रकाशक-
दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान
जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र. फोन नं.- (01233) 280184, 292943
Website : www.jambudweep.org
E-mail : ravindrajain@jambudweep.org

COURTESY—JAIN BOOK DEPOT
C/o Shri Nabhi Kumar Manav Kumar Jain
C-4, Opp. PVR Plaza, Cannaught Place, New Delhi-1
Ph.-011-23416101-02-03/Website : www.jainbookdepot.com

द्वितीय संस्करण	वीर नि. सं. 2536	मूल्य
1100 प्रतियाँ	आश्विन कृ. एकम्, क्षमावणी	40/-रु.
	24 सितम्बर 2010	

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान द्वारा संचालित

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमाला में दिगम्बर जैन आर्षमार्ग का पोषण करने वाले हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, कन्नड़, अंग्रेजी, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं के न्याय, सिद्धान्त, अध्यात्म, भूगोल-खगोल, व्याकरण आदि विषयों पर लघु एवं वृहद् ग्रंथों का मूल एवं अनुवाद सहित प्रकाशन होता है। समय-समय पर धार्मिक लोकोपयोगी लघु पुस्तिकाएं भी प्रकाशित होती रहती हैं।

-: संस्थापिका एवं प्रेरणास्रोत :-
परमपूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी

-: मार्गदर्शन :-
प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चन्दनामती माताजी

-: निर्देशन :-
धर्मदिवाकर पीठाधीश क्षुल्लकरत्न श्री मोतीसागर जी महाराज

-: सम्पादक :-
कर्मयोगी ब्र. रवीन्द्र कुमार जैन

—— सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन ——

कम्पोजिंग - ज्ञानमती नेटवर्क
जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र.

सम्पादकीय

–कर्मयोगी ब्र.रवीन्द्र कुमार जैन

जिस प्रकार सूर्य के आलोक से धरती का समस्त अंधकार नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञानरूपी आलोक भी ज्ञानान्धकार को विनष्ट कर देता है। एक कवि ने सच ही कहा है–

जहाँ न पहुँचे रवि, वहाँ पहुँचे कवि।

अर्थात् जिन दुर्गम स्थानों में सूर्य की किरणें अपना प्रकाश नहीं पहुँचा पातीं, ऐसे अंधकारमय स्थलों को भी ज्ञानरूपी प्रकाश के द्वारा सरलता से प्रकाशमान किया जा सकता है।

आज लोगों के पास समय अत्यधिक अल्प रहता है, कार्य की असीमित व्यस्तत के कारण वे चाहकर भी महापुरुषों के जीवन चरित्र को पुराण-ग्रंथों से आद्योपान्त नहीं पढ़ पाते, ऐसे समय में पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने अनेक बड़े-बड़े ग्रंथ लेखन के साथ ही बाल जगत एवं नारी जगत के जीवनोत्थान के लिए बाल विकास (4 भाग), बाल भारती (3 भाग), नारी आलोक (2 भाग) जैसी छोटी-छोटी पुस्तकों के माध्यम से प्राचीन कथानकों को रोचक ढंग से लेखनीबद्ध किया है।

प्रस्तुत पुस्तक ''नारी आलोक'' के द्वितीय भाग में अनेक सती नारियों के सतीत्व का वर्णन है, जिसको पढ़कर प्रत्येक व्यक्ति का मस्तक उन शील-शिरोमणि नारियों के प्रति श्रद्धा से स्वयमेव ही झुक जाता है। पुस्तक में विभिन्न विषयों को प्रतिपादित करने की शैली अत्यन्त प्रभावशाली है, जो कि पाठकों के हृदय में एक अमिट छाप छोड़ देती है। इस द्वितीय भाग में 24 कथानकों के माध्यम से विषयवस्तु का विभाजन किया गया है, जिसमें अनेक महत्वपूर्ण विषयों के साथ ही प्राचीन महान नारियों के आदर्शों का सुन्दर प्रस्तुतीकरण है।

इस पुस्तक के प्रत्येक कथानक का सूक्ष्मता से अध्ययन करके इसमें से कुछ न कुछ शिक्षा अपने जीवन में उतारने का प्रयास अवश्य करें, यही इसकी सार्थकता है।

प्रस्तावना

–ब्र. कु. सारिका जैन (संघस्थ)

संसार में चार प्रकार की गतियाँ होती हैं-देवगति, मनुष्यगति, तिर्यंचगति और नरकगति। इनमें से देव, तिर्यंच और नारकी जीव अपने-अपने भवसंबंधी नियमों से बंधे रहते हैं अर्थात् देवगति में देवों के लिए श्वासोच्छ्वास ग्रहण करने का जो काल है उससे पहले अथवा अपनी इच्छा से वे श्वांस भी नहीं ले सकते हैं, इसी प्रकार नारकी भी कितना ही दुःखी क्यों न हो जाएँ परन्तु वे चाहकर भी अपनी इच्छा से मरण नहीं कर सकते हैं। एकमात्र मनुष्यपर्याय ही ऐसी है कि हम चाहें तो अच्छे से अच्छा कार्य करके अपनी आत्मा को स्वर्ग-मोक्ष तक ले जा सकते हैं और खराब से खराब कार्य करके नरक-निगोद का भागी भी बना सकते हैं अतः दुर्लभ मनुष्य पर्याय को प्राप्त करके सावधानीपूर्वक जीवन जीने की शिक्षा प्रदान की जाती है। आप देखें कि किसी भी पुस्तक या शास्त्र में यह नहीं लिखा है कि तिर्यंचों को किस प्रकार के कार्य करने चाहिए अथवा नारकियों का आचरण कैसा होना चाहिए या देवी-देवताओं को किस प्रकार का जीवन व्यतीत करना चाहिए, सर्वत्र मनुष्यों के लिए ही शिक्षास्पद बातें बताई जाती हैं।

मनुष्यों में प्रारंभ से ही जिन घरों में बालक-बालिकाओं में धार्मिक संस्कार आरोपित किये जाते हैं, वे बालक-बालिकाएँ आगे चलकर अपने सत्कार्यों से अपना, अपने परिवार का एवं अपने वंश का नाम अवश्य रोशन करते हैं।

हम सभी के समक्ष पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी का साक्षात् उदाहरण है कि उन्होंने अपनी माँ की आज्ञानुसार अपने बचपन की उम्र को मात्र खेल-कूद में न बिताकर धार्मिक ग्रंथों का जो अध्ययन-स्वाध्याय किया, आज उसका प्रतिफल हमें उनके निर्दोष चारित्र, अनुपमव्यक्तित्व, आदर्श जीवन के रूप में दृष्टिगत हो रहा है।

अपने जीवनोत्थान के साथ ही पूज्य माताजी की सतत यही भावना रहती है कि प्रत्येक प्राणी का कल्याण हो, इसी भावना के फलस्वरूप उन्होंने बालक से लेकर मनीषी विद्वानों तक के लिए साहित्य लिखा।

अतः पूज्य ज्ञानमती माताजी द्वारा लिखित 250 ग्रंथों की श्रृँखला में ''नारी आलोक'' का यह द्वितीय भाग आपके हाथों में है। इसमें अनेक प्राचीन सती नारियों का आदर्श जीवन प्रस्तुत करते हुए बालिकाओं-महिलाओं के लिए अनेक प्रेरणास्पद शिक्षाओं को संक्षिप्त एवं सरलरूप में लेखनीबद्ध किया गया है ताकि वर्तमान की आधुनिक पीढ़ी इसका अधिक उपयोग कर सके।

पुस्तक को आद्योपान्त पढ़कर सभी लोग इसमें से अधिकाधिक शिक्षाएँ ग्रहण करके अपने जीवन का कल्याण करें, यही इसकी सार्थकता है।

परमपूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि
श्री ज्ञानमती माताजी का संक्षिप्त-परिचय

–प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका चन्दनामती

जन्मस्थान–टिकैतनगर (बाराबंकी) उ.प्र.

जन्मतिथि–आसोज सुदी 15 (शरदपूर्णिमा) वि. सं. 1991(सन् 1934)

गृहस्थ का नाम–कु. मैना

माता-पिता–श्रीमती मोहिनी देवी एवं श्री छोटेलाल जैन

आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत–ई. सन् 1952 में बाराबंकी में शरदपूर्णिमा के दिन आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज से।

क्षुल्लिका दीक्षा–चैत्र कृ. 1, ई. सन् 1953 को महावीरजी अतिशय क्षेत्र (राज.) में।

आर्यिका दीक्षा–वैशाख कृ. 2, ई. सन् 1956 को माधोराजपुरा (राज.) में चारित्रचक्रवर्ती 108 आचार्य श्री शांतिसागर जी की परम्परा के प्रथम पट्टाधीश आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज के करकमलों से।

साहित्यिक कृतित्व–अष्टसहस्री, समयसार, नियमसार, मूलाचार, कातंत्र-व्याकरण, षट्खण्डागम आदि ग्रंथों के अनुवाद/टीकाएं एवं 250 विशिष्ट ग्रंथों की लेखिका। सन् 1995 में अवध वि.वि. (फैजाबाद) द्वारा ''डी.लिट्.'' की मानद उपाधि से विभूषित।

तीर्थ निर्माण प्रेरणा–हस्तिनापुर में जंबूद्वीप तीर्थ का निर्माण, शाश्वत तीर्थ अयोध्या का विकास एवं जीर्णोद्धार, प्रयाग-इलाहाबाद (उ.प्र.) में तीर्थंकर ऋषभदेव तपस्थली तीर्थ का निर्माण, तीर्थंकर जन्मभूमियों का विकास यथा–भगवान महावीर जन्मभूमि कुण्डलपुर (नालंदा-बिहार) में 'नंद्यावर्त महल' नामक तीर्थ निर्माण, भगवान पुष्पदंतनाथ की जन्मभूमि काकन्दी तीर्थ(निकट गोरखपुर-उ.प्र.) का विकास, भगवान पार्श्वनाथ केवलज्ञानभूमि अहिच्छत्र तीर्थ पर तीस चौबीसीमंदिर, हस्तिनापुर में जम्बूद्वीप स्थल पर भगवान शांतिनाथ-कुंथुनाथ-अरहनाथ की 31 फुट उत्तुंग खड्गासन प्रतिमा निर्माण की प्रेरणा, मांगीतुंगी में निर्माणाधीन 108 फुट उत्तुंग भगवान ऋषभदेव कीविशाल प्रतिमा इत्यादि।

महोत्सव प्रेरणा–पंचवर्षीय जम्बूद्वीप महामहोत्सव, भगवान ऋषभदेव अंतर्राष्ट्रीय निर्वाण महामहोत्सव, अयोध्या में भगवान ऋषभदेव महाकुंभ मस्तकाभिषेक, कुण्डलपुर महोत्सव, भगवान पार्श्वनाथ जन्मकल्याणक तृतीय सहस्राब्दि महोत्सव, दिल्ली में कल्पद्रुम महामण्डल विधान का ऐतिहासिक आयोजन इत्यादि। **विशेषरूप से 21 दिसम्बर 2008 को जम्बूद्वीप स्थल पर विश्वशांति अहिंसा सम्मेलन का आयोजन हुआ, जिसका उद्घाटन भारत की राष्ट्रपति श्रीमती प्रतिभा देवीसिंह पाटील द्वारा किया गया।**

शैक्षणिक प्रेरणा–'जैन गणित और त्रिलोक विज्ञान' पर अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठी, राष्ट्रीय कुलपति सम्मेलन, इतिहासकार सम्मेलन, न्यायाधीश सम्मेलन एवं अन्य अनेक राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय स्तर के सेमिनार आदि।

रथ प्रवर्तन प्रेरणा–जम्बूद्वीप ज्ञानज्योति (1982 से 1985), समवसरण श्रीविहार (1998 से 2002), महावीर ज्योति (2003-2004) का भारत भ्रमण।

इस प्रकार नित्य नूतन भावनाओं की जननी पूज्य माताजी चिरकाल तक इस वसुधा को सुशोभित करती रहें, यही मंगल कामना है।

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान-संक्षिप्त परिचय

–पीठाधीश क्षुल्लक मोतीसागर

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान की स्थापना पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी की प्रेरणा से सन् 1972 में राजधानी दिल्ली में हुई थी। संस्थान का मुख्य कार्यालय सन् 1974 से हस्तिनापुर में प्रारंभ हुआ। इस संस्थान के अन्तर्गत अनेक गतिविधियाँ हस्तिनापुर में तथा अन्यत्र चल रही हैं–

1. सन् 1972 से वीर ज्ञानोदय ग्रंथमाला के अन्तर्गत लाखों ग्रंथ प्रकाशित हो रहे हैं।

2. सन् 1974 से इस संस्थान के मुखपत्र के रूप में 'सम्यग्ज्ञान' हिन्दी मासिक पत्रिका का निरंतर प्रकाशन हो रहा है।

3. सन् 1974 से 1985 तक हस्तिनापुर में जम्बूद्वीप रचना का निर्माण कार्य हुआ।

4. सन् 1974 से अब तक जम्बूद्वीप रचना के अतिरिक्त अनेक जिनमंदिरों का निर्माण हुआ है–कमल मंदिर, तीन मूर्ति मंदिर, ध्यान मंदिर, शांतिनाथ मंदिर, वासुपूज्य मंदिर, ॐ मंदिर, सहस्रकूट मंदिर, विद्यमान बीस तीर्थंकर मंदिर, आदिनाथ मंदिर, अष्टापद मंदिर, ऋषभदेव कीर्तिस्तंभ, स्वर्णिम तेरहद्वीप रचना, तीन लोक रचना, नवग्रहशांति जिनमंदिरएवं श्री शांतिनाथ-कुंथुनाथ-अरहनाथ की 31-31 फुट उत्तुंग प्रतिमाओं की स्थापना।

5. जम्बूद्वीप पुस्तकालय जिसमें लगभग 15000 ग्रंथ संग्रहीत हैं।

6. णमोकार महामंत्र बैंक जिसमें भक्तों द्वारा लिखकर भेजे गये करोड़ों णमोकार मंत्र जमा किये जाते हैं।

7. समय-समय पर शिक्षण-प्रशिक्षण शिविरों तथा संगोष्ठियों के आयोजन किये जाते हैं।

8. यात्रियों के शुद्ध भोजन के लिए राजा श्रेयांस भोजनालय का संचालन।

9. यात्रियों के ठहरने के लिए आधुनिक सुविधायुक्त डीलक्स फ्लैट्स वाली कई धर्मशालाओं तथा कोठियों एवं बंगलों का निर्माण किया गया है।

10. जम्बूद्वीप परिक्रमा के लिए नौका विहार, ऐरावत हाथी तथा मनोरंजन हेतु मिनी ट्रेन, झूले आदि हैं।

11. ज्ञानमती कला मंदिरम् में हस्तिनापुर के प्राचीन इतिहास से संबंधित झाँकियाँ हैं।

12. तीर्थंकर जन्मभूमियों की वंदना एवं धार्मिक फिल्मों का प्रदर्शन करने वाले थियेटर से समन्वित गणिनी ज्ञानमती हीरक जयंती एक्सप्रेस।

दिल्ली, मेरठ, मुजफ्फरनगर, हरिद्वार, झाँसी, तिजारा आदि से जम्बूद्वीप स्थल तक आने के लिए दिन भर बसें मिलती रहती हैं।

दि. जैन त्रिलोक शोध संस्थान के अन्तर्गत भगवान महावीर जन्मभूमि कुण्डलपुर (नालंदा) बिहार में भव्य नंद्यावर्त महल तीर्थ तथा प्रयाग-इलाहाबाद (उ.प्र.) में निर्मित तीर्थंकर ऋषभदेव तपस्थली तीर्थ का भी संचालन होता है।

जम्बूद्वीप एवं अन्य रचनाओं के दर्शन हेतु हस्तिनापुर पधारकर आध्यात्मिक एवं भौतिक सुख की प्राप्ति करें।

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला के शिरोमणि संरक्षक

1. श्रीमती निर्मला जैन ध.प. स्व. श्री प्रेमचन्द्र जैन, तत्पुत्र प्रदीप कुमार जैन, खी बावली, दिल्ली-6।
2. श्रीमती सुमन जैन ध.प. श्री दिग्विजय सिंह जैन, इंदौर।
3. श्री महावीर प्रसाद जैन संघपति, जी-19, साऊथ एक्सटेन्शन, नई दिल्ली।
4. श्री महेन्द्र पाल हरेन्द्र कुमार जैन, सूरजमल विहार, दिल्ली।
5. श्रीमती मोहनी जैन ध.प. श्री सुनील जैन, प्रीत विहार, दिल्ली।
6. श्री देवेन्द्र कुमार जैन (धारूहेड़ा वाले) गुड़गाँव (हरि.)।
7. श्रीमती शारदा रानी जैन ध.प. स्व. रिखबचंद जैन, बाहुबली एन्क्लेव, दिल्ली-92।
8. डॉ. देवेन्द्र कुमार जैन, भोपाल (म.प्र.)
9. श्रीमती संगीता जैन ध.प. श्री संजीव कुमार जैन, शेरकोट (बिजनौर) उ.प्र.
10. श्री अनिल कुमार जैन, दरियागंज, दिल्ली
11. श्री बी.डी. मदनाइक, मुम्बई
12. श्री धनकुमार जैन, बाहुबली एन्क्लेव, दिल्ली-92।
13. श्री जितेन्द्र कुमार जैन एवं श्रीमती सुनीता जैन कोटड़िया, फ्लोरिडा, यू.एस.ए.
14. श्रीमती विमला देवी जैन ध.प. श्री ओमप्रकाश जैन, स्वालिक नगर, हरिद्वार (उत्तराखंड)।
15. श्री अमित जैन एवं संभव जैन सुपुत्र श्रीमती अनीता जैन ध.प. श्री मूलचंद जैन पाटनी, दिसपुर (कामरूप) आसाम।
16. श्रीमती अजित कुमारी जैन ध.प. श्री महेन्द्र कुमार जैन, ओबेदुल्लागंज (रायसेन) म.प्र.।
17. श्री नाभिकुमार जैन, जैन बुक डिपो, सी-4, पी.वी.आर. प्लाजा के पीछे, कॉर्नट प्लेस, नई दिल्ली।

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला के परम संरक्षक

1. श्री माँगीलाल बाबूलाल पहाड़े, हैदराबाद (आन्ध्र प्रदेश)।
2. डॉ. प्रकाशचन्द्र जैन, 792 विवेकानंदपुरी, सिविल लाइन, सीतापुर (उ.प्र.)।
3. श्री सुमत प्रकाश जैन, गज्जू कटरा, शाहदरा, दिल्ली।
4. श्री सुनील कुमार जैन, द्वारा-सुनील टैक्सटाईल्स, सरधना (मेरठ) उ.प्र.।
5. श्री प्रकाश चंद अमोलक चंद जैन सर्राफ, सनावद (म.प्र.)।
6. श्री प्रद्युम्न कुमार जवेरी, रोकड़ियालेन, बोरीवली (वेस्ट) मुंबई।
7. श्रीमती उर्मिला देवी ध.प. श्री कान्ती प्रसाद जैन, ऋषभ विहार, दिल्ली।
8. श्रीमती उषा जैन ध.प. श्री विमल प्रसाद जैन, ऋषभ विहार, दिल्ली।
9. श्री आनन्द प्रकाश जैन (सौरम वाले) , गांधीनगर, दिल्ली।
10. श्रीमती सरिता जैन ध.प. श्री राजकुमार जैन, किदवई नगर, कानपुर।
11. स्व. श्रीमती कैलाशवती ध.प. श्री कैलाश चन्द्र जैन , तोपखाना बाजार, मेरठ।
12. श्री भानेन्द्र कुमार जैन, द्वारा-श्री विद्या जैन, भगत सिंह मार्ग, जयपुर।
13. श्री प्रदीप कुमार शान्तिलाल बिलाला, अनूपनगर, इंदौर, (म.प्र.)।
14. श्री सुरेशचंद पवन कुमार जैन, बाराबंकी (उ.प्र.)।
15. श्री नथमल पारसमल जैन, कलकत्ता-7।
16. श्रीमती स्व. शांताबाई ध.प. श्री कमलचंद जैन, सनावद (म.प्र.)।
17. श्री रूपचंद जैन कटारिया, दिल्ली
18. श्री आशु जैन, कालका जी, नई दिल्ली

विषयानुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ
1. जिनमाता की महिमा	1
2. कन्यारत्न ही सर्वोत्कृष्ट रत्न है	4
3. जटायु पक्षी	9
4. भाग्य का चमत्कार	13
5. उपवास के गुण	17
6. अनेकांत	20
7. तीर्थंकरों के पूर्व भव के गुरु	23
8. अभक्ष्य किसे कहते हैं?	26
9. तप का प्रभाव	31
10. आई हुई निधि चली गई	37
11. जिनधर्म की देशना का पात्र कौन?	40
12. प्रत्युपकार	45
13. शून्यवाद क्या है?	49
14. इन्द्रध्वज विधान का महत्त्व	51
15. सच्चे बांधव	55
16. दोषारोपण से हानि	61
17. स्वसमय और परसमय	66
18. जीवदया परम धर्म है	70
19. ऐतिहासिक आर्यिकाएँ	75
20. निःशल्यो व्रती	80
21. संन्यासी-संन्यासिनी	85
22. दृढ़ता का ज्वलंत उदाहरण	89
23. ध्यान	98
24. महिलाओं के कर्तव्य	104
25. सोलह जन्मभूमियों की नामावली	108

जिनमाता की महिमा

किरण माला—माँ! आज महावीर जयन्ती के दिन सर्वत्र भगवान महावीर के गुणानुवाद गाये जा रहे हैं। सचमुच में कितनी पुण्यशालिनी थीं वे त्रिशला माता, जिन्होंने तीन लोक के नाथ ऐसे पुत्ररत्न को जन्म दिया था।

माता—हाँ बेटी! आज से लगभग छब्बीस सौ आठ वर्ष और नव माह पूर्व आषाढ़ शुक्ला षष्ठी के दिन अच्युत स्वर्ग से च्युत होकर एक इन्द्र ने माता त्रिशला के गर्भ में प्रवेश किया। वे देवी त्रिशला बचपन से ही बहुत पुण्यशालिनी थीं। बालक के गर्भ में आने के छह माह पूर्व से ही देवियों ने माता की सेवा करना प्रारंभ कर दिया था, वे देवियाँ दिव्य विनोदों के द्वारा सर्वदा ही जिनमाता को प्रसन्न रखती थीं। गर्भ में भी जिन बालक मति, श्रुत, अवधि ऐसे तीन ज्ञान के धारक थे। उनके प्रभाव से माता में अलौकिक बुद्धि प्रगट हो गई थी।

नवमें मास के समीप आने पर उन देवियों ने गूढ़ अर्थ और गूढ़ क्रियापद वाले नाना प्रकार के मनोहर प्रश्नों से, प्रहेलिकाओं से काव्य और धार्मिक श्लोकों द्वारा माता का मन रंजायमान करना प्रारंभ किया था।

देवी—हे मातः! बताओ, नित्य ही कामिनी जनों में आसक्त हो करके भी विरक्त है, कामुक होकर के भी अकामुक है और इच्छा सहित होकर भी इच्छा से रहित ऐसा लोक में कौन श्रेष्ठ आत्मा है।

माता—'परमात्मा' अर्थात् जो परमात्मा होता है वह मुक्ति स्त्री में आसक्त होते हुए भी सांसारिक स्त्रियों से विरक्त रहता है।

प्रश्न—हे मातः! इस लोक और परलोक में जीवों का हित करने वाला कौन है ?

उत्तर—जो चेतन-धर्मतीर्थ का कर्ता है वही अनन्त सुख के लिए तीन जगत् का हित करने वाला है।

प्रश्न—इस लोक में किसके वचन प्रामाणिक हैं?

उत्तर—जो सर्वज्ञ, जगत् हितैषी, निर्दोष और वीतराग हैं, उनके वचन ही प्रामाणिक हैं, अन्य किसी के नहीं।

प्रश्न—जन्म-मरणरूप विषय को दूर करने वाली अमृत के समान पीने योग्य क्या वस्तु है ?

उत्तर—जिनेन्द्रदेव के मुख से उत्पन्न हुआ ज्ञानामृत ही पीने योग्य है, मिथ्याज्ञानियों के विषरूपी वचन नहीं।

प्रश्न—इस लोक में बुद्धिमानों को किसका ध्यान करना चाहिए ?

उत्तर—पंच परमेष्ठियों का, जिनागम का, आत्मतत्त्व का और धर्मशुक्लरूप ध्यान का ध्यान करना चाहिए, अन्य किसी का नहीं।

प्रश्न—शीघ्र क्या करना चाहिए ?

उत्तर—जिससे संसार का नाश हो, ऐसे अनन्तज्ञानादिक के प्राप्त कराने वाले चारित्र का पालन करना चाहिए।

प्रश्न—धर्म क्या है ?

उत्तर—तप, रत्नत्रय, व्रत, शील, उत्तम क्षमादि ये सभी धर्म हैं।

प्रश्न—धर्म का क्या फल है ?

उत्तर—समस्त इन्द्रों की विभूति, तीर्थंकर आदि की लक्ष्मी और मोक्ष सुख की प्राप्ति ही धर्म का उत्तम फल है।

प्रश्न—कौन से कार्य पाप के करने वाले हैं ?

उत्तर—मिथ्यात्व, पंचइन्द्रियाँ, क्रोधादि कषाय, कुसंग और छह अनायतन ये सब पाप के करने वाले हैं।

प्रश्न—पाप का क्या फल है ?

उत्तर—अप्रिय और दुःख के कारण मिलना, दुर्गति में रोग-क्लेशादि भोगना और निन्द्य पर्याय पाना ये सर्व पाप के फल हैं।

प्रश्न—संसार में परम शत्रु कौन है ?

उत्तर—जो आत्महितकारक तप, दीक्षा और व्रतादि को ग्रहण न करने देवे, वह कुबुद्धि अपना और दूसरों का परम शत्रु है।

इत्यादि और भी बहुत प्रकार से पूछे गये शुभकारक प्रश्नों का उत्तम स्पष्ट उत्तर सर्ववेत्ता गर्भस्थ तीर्थंकर के माहात्म्य से माता ने दिया था।

गर्भस्थ पुत्र से माता का उदर नहीं बढ़ा था और न रंचमात्र ही पीड़ा हुई थी, सौधर्मेन्द्र द्वारा भेजी गई इन्द्राणी भी अप्सराओं के साथ हर्ष से उन जिन माता की सेवा करती थी, पुनः उनके माहात्म्य का क्या वर्णन करना!

अनन्तर सैकड़ों उत्सवों के साथ नौ मास पूर्ण होने के बाद चैत्रमास के शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी के दिन 'अर्यमा' नामक योग में माता प्रियकारिणी ने तीन लोक के गुरु ऐसे पुत्ररत्न को जन्म दिया। भगवान का जन्म होते ही स्वर्गों में इन्द्रों के आसन कम्पायमान हो गये, उनके यहाँ कल्पवृक्षों से पुष्पवृष्टि होने लगी, दिशाएँ निर्मल हो गईं, आकाश में मन्द-सुगंधित पवन चलने लगी। स्वर्ग लोक में बिना बजाये गंभीर ध्वनि करने वाला घण्टानाद होने लगा। भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों के यहाँ सिंहनाद, शंखनाद और भेरीनाद होने लगा। सौधर्म आदि इन्द्रों ने अवधिज्ञान से जिन जन्म को जानकर असंख्यातों देवों के साथ आकर भगवान को सुमेरु पर्वत पर ले जाकर जन्मकल्याणक महोत्सव मनाया।

इस मध्यलोक में तेरहवाँ रुचकवर द्वीप है, वहाँ पर मध्य में एक रुचक पर्वत है। उसके ऊपर कूटों पर निवास करने वाली देवियाँ भगवान के जन्मकल्याणक में आती हैं।

'विजया आदि आठ दिक्कन्याएँ जिन भगवान के जन्मकल्याणक में दर्पण को धारण करती हैं, इला आदि आठ दिक्कन्याएँ जिनमाता के ऊपर छत्र धारण करती हैं, अलंभूषा आदि आठ दिक्कन्याएँ जिन जन्मकल्याणक में चँवरों को ढोरती हैं, सौदामिनी आदि चार देवियाँ दिशाओं को निर्मल करती हैं एवं रुचका आदि चार देवियाँ जिन भगवान के जातकर्मों को करती हैं।[1]'

अधिक कहने से क्या ? बेटी! जिन बालक के जन्मकल्याणक में देवेन्द्रों द्वारा अलौकिक और महान उत्सव मनाया जाता है जिसके असंख्यातवें भाग की भी हम लोग कल्पना नहीं कर सकते हैं, वास्तव में वे इन्द्रादिगण महान पुण्य संचय कर लेते हैं।

इतने वैभव को प्राप्त कराने योग्य जो तीर्थंकर प्रकृति है, उसका बंध करना हमारे तुम्हारे आदि जीवों के परिणामों के ऊपर निर्भर है। वास्तव में सोलह कारण भावनाएँ बहुत ही महत्त्वशाली हैं। इन्हीं से तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो जाता है।

किरण माला—हाँ माँ! मुझे ये भावनाएँ बहुत ही अच्छी लगती हैं। मैं भी इन भावनाओं को अपने में उतारने का प्रयत्न करूँगी।

1. तिलोयपण्णत्ति द्वितीय भाग पृ. 548 से।

कन्यारत्न ही सर्वोत्कृष्ट रत्न है

महाराज अकंपन रत्नजटित सिंहासन पर आरूढ़ हैं। वीरांगनाएँ चमर ढोर रही हैं। सभा का चारों तरफ का वातावरण अपनी शोभा से सौधर्म इन्द्र की सुधर्मा सभा की भी मानों हँसी उड़ा रहा है। इसी बीच में सुपुत्री सुलोचना कृश शरीर को धारण करती हुई हाथ में पूजा के शेषाक्षत को लेकर सन्मुख आती है। महाराज अकंपन आसन से उठकर हाथ जोड़कर उसके द्वारा दिये हुए अक्षत को लेकर स्वयं अपने मस्तक पर रख लेते हैं और कहते हैं—

"पुत्री! तू उपवास से अतिशय खिन्न हो गई है, अब घर जा, यह तेरे पारणा का समय है।

पुत्री पिता को प्रणाम कर चली जाती है। राजा कुछ क्षण विचार में निमग्न हो जाते हैं। अहो! इस कन्या की जिनभक्ति और सम्यग्दर्शन की विशुद्धि कितनी विशेष है! इसने विशाल जिनमंदिर में बहुत ही रत्नमयी जिनप्रतिमाएँ विराजमान कराई हैं, उनके सुवर्णमयी उपकरण बनवाये हैं, जिनबिम्बों की प्रतिष्ठा विधि कराई है और नित्य उनकी पूजा किया करती है। अभी फाल्गुन की अष्टान्हिका पर्व में इसने विधिवत् पूजन-विधान व उपवास का अनुष्ठान किया है। यह सतत जिनपूजा व पात्रदान आदि उत्तम कार्यों में ही तत्पर रहती है। अब यह पूर्ण यौवन अवस्था को प्राप्त हो चुकी है, अब इसका इसी के अनुरूप वर के साथ विवाह संबंध कर देना चाहिए कि जिससे गृहस्थ धर्म की परम्परा अक्षुण्णरूप से चलती रहे।

अपने मंत्रियों को बुलाकर कहते हैं—

मंत्रियों! हमारे कुल के प्राणस्वरूप इस कन्या के लिए सभी राजा लोग प्रार्थना कर रहे हैं अतः यह कन्या किसको दी जावे।"

"महाराज! कुल, वय, विद्या, बुद्धि आदि से विशिष्ट चक्रवर्ती के पुत्र अर्ककीर्ति को आप अपनी कन्या देते हैं तो बड़े जनों के साथ संबंध हो जाने से आप भी महान् पूज्यता को प्राप्त होंगे।

सिद्धार्थ मंत्री ने कहा—

व्यवहार में कुशल लोग यही कहते हैं कि छोटे लोगों का बड़ों लोगों के साथ संबंध होना अच्छा नहीं रहता, अतः अपने बराबर वालों के साथ ही संबंध करना चाहिए। देखिए! मेघेश्वर, प्रभंजन आदि अनेक राजपुत्र हैं, जो एक से एक वैभवशाली हैं।"

इसी बीच में सर्वार्थ मंत्री बोल उठते हैं–

"राजन्! भूमिगोचरी राजाओं के साथ तो हम लोगों का संबंध पहले से ही विद्यमान है, अतः इस कन्या को विद्याधर राजाओं में से किसी को देनी चाहिए.........अनेक ऊहापोह के अनन्तर सुमति मंत्री कहने लगे........

"महाराज! ये सब बातें शत्रुता उत्पन्न करने वाली हैं। यदि आप विद्याधर को कन्या देंगे, तो चक्रवर्ती क्या कहेंगे? क्या भूमिगोचरियों में इसके योग्य कोई वर नहीं था? अनेक राजाओं द्वारा याचना हो रही है, उनमें से आप किसी एक को ही तो कन्या देंगे, तो अन्य राजा अवश्य आपके विरोधी हो जावेंगे। मेरी समक्ष में तो प्राचीन पुराणों में स्वयंवर की उत्तम विधि सुनी जाती है। यदि सर्वप्रथम आप पूज्यश्री द्वारा यह विधि प्रारंभ कर दी जाये, तो भगवान ऋषभदेव और सम्राट् भरत के समान आपकी भी प्रसिद्धि युग के अंत तक हो जाये।

उस स्वयंवर में यह कन्या जिसका वरण करे, वही ठीक है। तब पुनः आपका किसी के साथ विरोध होने का प्रसंग नहीं उठेगा........।

महाराज को यह बात ठीक जँच गई। मंत्रियों को विदा कर वे राजमहल में पहुँचते हैं, महारानी सुप्रभा पुत्र हेमांगद व वृद्ध पुरुषों से विचार-विमर्श करके स्वयंवर के लिए निर्णय कर लेते हैं पुनः सर्वत्र देशों में राजाओं के पास दूतों द्वारा आमंत्रण पत्रिका भेज देते हैं। इसी बीच में एक देव आकर कहता है–

"महाराज! मैं पूर्वभव में आपका भाई था, इस समय सौधर्म स्वर्ग से आ रहा हूँ, मेरा नाम विचित्रांगद है। इस पुण्यवती सुलोचना के स्वयंवर को देखने के लिए आया हूँ।"

पुनः महाराज की आज्ञा के अनुसार उसने उत्तर दिशा की ओर एक अत्यन्त विशाल सर्वतोभद्र नाम का राजभवन बनाया। वह कई खण्डों का था और सर्वत्र मंगलद्रव्यों से भरा हुआ था। उस राजभवन के चारों तरफ "स्वयंवर भवन" का निर्माण किया। उसके चारों तरफ गोपुर द्वार, रत्नों के तोरण, पताकाओं की पंक्तियाँ, शिखरों पर चमकते हुए सुवर्ण कलश अपनी अद्वितीय शोभा से उस वाराणसी नगरी को स्वर्गपुरी ही बना रहे थे। वहाँ का धरातल नीलमणियों से जड़ा हुआ था और छतों में अनेक वर्ण के रत्नों से जटित चन्दोवे चारों तरफ अपनी शोभा बिखेर रहे थे।

जिस स्वयंवर मण्डप को निर्माण करने वाला विचित्रांगद देव स्वयं शिल्पी है, उसकी शोभा का कौन वर्णन कर सकता है? चारों तरफ से बजने वाले वाद्यों ने ही मानों कुछ ही दिनों में चारों तरफ के बड़े-बड़े राजपुत्रों को वहीं बुला लिया था। महाराजा भरत के सुपुत्र अर्ककीर्ति भी स्वयं अनेक बंधुवर्गों के साथ असीम वैभव को लेकर वहाँ पधारे थे। महाराज अकंपन किन्हीं को स्वयं आगे होकर स्वागत करके लाये थे, किन्हीं को लाने के लिए पुत्रों को, किन्हीं को लाने के लिए मंत्री आदि को भेजा था। यथोचित प्रकार से सभी राजाओं का स्वागत करके उन्हें यथोचित भवनों में ठहराया गया। उस समय समुद्र अपने रत्नाकरपने का खोटा अहंकार व्यर्थ ही धारण करता है। वास्तव में राजा अकंपन और रानी सुप्रभा ही सच्चे रत्नाकर हैं, क्योंकि कन्यारत्न के सिवाय और कोई भी उत्तम रत्न नहीं है, ऐसा ही सभी लोग कह रहे थे।

पुनः श्रेष्ठ मुहूर्त में राजा अकम्पन ने जिनेन्द्रदेव की महापूजा कराई। महारानी सुप्रभा ने कन्या को सुवर्ण के पाटे पर बिठाकर मंगल स्नान कराया। माङ्गलिक वस्त्रालंकार से सुसज्जित करके नित्य मनोहर चैत्यालयों में ले जाकर उससे विधिवत् देव की पूजा कराई। राजा अकम्पन स्वयं ही आकर स्वयंवर मण्डप में योग्य आसन पर विराजमान हो गये। उसी समय महेन्द्रदत्त नाम का कंचुकी चित्रांगद देव के द्वारा दिये हुए अतिशायी अलंकारों से अलंकृत रथ पर सुलोचना को बिठाकर स्वयंवर मण्डप की ओर चल पड़ता है। साथ में हेमांगद कुमार आदि राजपुत्र अपने छोटे भाइयों व सेना के साथ बहन सुलोचना के रथ के चारों तरफ चल रहे हैं।

कुछ ही क्षणों में रथ स्वयंवरशाला में प्रवेश करता है। रथ पर बैठी हुई सुलोचना के ऊपर छत्र लगा हुआ है, जो सूर्य के प्रताप को रोकने में समर्थ है। आजू-बाजू में खड़ी हुई सखियाँ चमर ढोल रही हैं। उसके शरीर की कान्ति से अनेक प्रकार के रत्नों के आभूषण भी लज्जा को प्राप्त हो रहे हैं। रत्नों की माला को हाथ में लिए हुए कंचुकी रथ की धुरी पर बैठा हुआ है। धीरे-धीरे रथ स्वयंवर मण्डप में चल रहा है और कंचुकी निम्न प्रकार से राजाओं का परिचय देता जा रहा है–

"कुमारिके! देखिए, ये विजयार्ध की दक्षिण श्रेणी के राजा नमि के पुत्र सुनमि हैं और ये उत्तर श्रेणी के राजा विनमि के पुत्र सुविनमि हैं। इनमें से तू किन्हीं एक को अपने पतिरूप से वरण कर.........।"

सुलोचना कन्या जिन राजपुत्रों के सन्मुख से निकल जाती है, वे अपने भाग्य को कोसकर रह जाते हैं। आगे बढ़ते-बढ़ते वह रथ विद्याधरों की ऊँची भूमि

से उतरकर नीचे भूमिगोचरियों की ओर बढ़ रहा है पुनः कंचुकी क्रम-क्रम से राजाओं का परिचय देते हुए कह रहा है।

"सम्राट भरत के सबसे बड़े पुत्र कुलतिलक ये युवराज अर्ककीर्ति हैं।...ये हस्तिनापुर के राजा सोमप्रभ के सुपुत्र जयकुमार हैं........।

इतना कहते ही सुलोचना की दृष्टि जयकुमार पर पड़ रही है, ऐसा देखते ही कंचुकी घोड़ों की रास थाम लेता है और कहता ही चला जाता है...।

"इन्होंने चक्रवर्ती भरत महाराज के दिग्विजय के प्रसंग में उत्तर भारत में मेघकुमार नाम के देवों को जीतकर उन देवों के कृत्रिम बादलों की गर्जना को जीतने वाला सिंहनाद किया था। उस समय निधियों के स्वामी राजा भरत ने हर्षित होकर अपनी भुजाओं द्वारा धारण किया जाने वाला "वीरपट्ट" इन्हें बांधा था और मेघेश्वर इनका नाम रखा था। यह भी एक आश्चर्य की बात है कि इन जयकुमार के गुण तीनों लोकों को प्रसन्न कर अब तेरे अन्तःकरण को अनुरक्त करने के लिए पूर्णरूप से वापस लौटे हैं। इन्होंने दिग्विजय में अनेक देवों व राजाओं को जीतकर जयकुमार अपना नाम सार्थक कर दिया है और अब तुझे जीतने के लिए धैर्य रहित से हो रहे हैं........।"

उस समय जन्मान्तर का स्नेह जिसे प्रेरित कर रहा है ऐसी सुलोचना जयकुमार के सुन्दर आकार को देखती हुई, कुन्दपुष्प के समान उसके गुणों को सुनती हुई, रथ से नीचे उतरती है और कंचुकी के हाथ से रत्नमाला लेकर अतिशय प्रेम में निमग्न होकर उस मनोहर माला को जयकुमार के गले में डाल देती है। उसी समय अकस्मात् सर्वबाजों की बड़ी भारी ध्वनि हो उठती है, जिससे ऐसा मालूम होता है कि दशों दिशाएँ भी बाजों की प्रतिध्वनि के बहाने सुलोचना के वर चयन के असाधारण उत्सव को ही मना रही हैं। नाथवंश के अधिपति राजा अकंपन हर्ष से रोमांचित हो उठते हैं।.....कल्पलता से युक्त कल्पवृक्ष के समान पुत्री से युक्त जयकुमार को आगे कर अतीव वैभव के साथ नगर में प्रवेश करते हैं।

इधर कुछ असहिष्णु लोग कुमार अर्ककीर्ति को युद्ध के लिए व्यर्थ ही भड़का देते हैं, तब मेघेश्वर जयकुमार महाराज अकंपन की आज्ञा लेकर निकल पड़ते हैं। दोनों पक्षों में घोर युद्ध होता है। कर्मभूमि की आदि में स्त्रीरत्न के लिए परस्पर में भयंकर युद्ध में करोड़ों प्राणियों का संहार होने का यह पहला ही प्रसंग था....... अन्त में न्याय की विजय होती है, जयश्री सुलोचना के समान ही

जयकुमार के गले में जयमाला पहना देती है। अपनी विजय के अनन्तर महाराज अकंपन मंदिर में ध्यान मुद्रा में स्थित सुलोचना को बेटी! उपसर्ग दूर हो चुका है, अब तू ध्यान को संकुचित कर और घर चल, ऐसा कहकर उसे घर लाते हैं।

महाशांतिविधान-पूजन करके शुभ मुहूर्त में सुलोचना का विवाह जयकुमार के साथ कर देते हैं और दहेज में अमूल्य सम्पत्ति आदि देकर उनका सम्मान करते हैं।

युग की आदि में होने वाले इस सुलोचना के स्वयंवर से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वयंवर प्रथा अनादि निधन है, इससे यह बात भी समझ में आ जाती है कि हमेशा ही कन्याओं के जन्म से उनके माता-पिता अपने को हीन-दीन न समझकर महान् पुण्यशाली रत्नों की खानस्वरूप समझते थे। एक कन्या की याचना के लिए हजारों राजा लालायित रहते थे। यही बात सीता के स्वयंवर में भी देखी जाती है किन्तु इस कलिकाल का माहात्म्य तो देखो कि आज जिनके कन्याएँ हैं, वे उन्हें पाप कर्मफल समझ रहे हैं। क्यों? क्योंकि एक कन्या को कई लड़के देखते हैं। यदि उसमें पाश्चात्य संस्कृति, फैशनपरस्ती, लौकिक शिक्षा या रूप विशेष नहीं है, तो पास नहीं करते हैं, उसके शील व्रत, पातिव्रत नारी धर्म आदि गुणों की कोई कीमत नहीं है। यहीं तक ही नहीं....यदि कन्या के माता-पिता लाख-दो लाख नहीं दे सकते, तो विवाह नहीं हो सकता है, चूँकि वर के माता-पिता ने अपने लाडले को पढ़ाने में बहुत ही खर्च किया है, वह लड़की वालों से ही वसूल करना है.............। अथवा लड़के का विवाह भी एक कमाई का साधन है।.....धर्म बंधुओं व बहनों! क्या पर के धन से तुम्हारा जीवन निर्वाह होगा? तुम सभी लोग इस महानिंद्य दहेज प्रथा का त्याग करो। कन्या दो कुल की भूषण है, उसका स्वयं में मूल्य क्या है! सोचो, वह अमूल्यरत्न है! शील आदि गुणों से युक्त दोनों कुलों को समुन्नत कर देती है, आगे वही उत्तम-उत्तम पुरुषरूपी रत्नों की खान होने वाली है। उसके जीवन को अपमानित मत करो। उनके माता-पिता को भी त्रसित मत करो।

जटायु पक्षी

सुधा—माताजी! मुझे आज आहारदान का महत्त्व बतलाइये।

आर्यिका—सुनो बेटी! मैं तुम्हें बहुत ही सुन्दर एक कथा सुनाती हूँ, जो कि धर्म में महान प्रेम और पाप से महान भय उत्पन्न कराने वाली है।

श्री रामचन्द्र, सीता और लक्ष्मण के साथ वनवास में घूमते-घूमते किसी महावन में पहुँच गये। वहाँ लक्ष्मण ने नाना प्रकार की मिट्टी, बाँस तथा पत्तों से सब प्रकार के बर्तन तथा उपयोगी सामान शीघ्र ही तैयार किया था। इन सब बर्तनों में राजपुत्री सीता ने स्वादिष्ट तथा सुन्दर फल और वन के सुगंधित धान्य के भोजन बनाये।

अतिथि प्रेक्षण के समय सीता ने सामने आते हुए सुगुप्ति और गुप्ति नाम के दो मुनिराजों को देखा, वे मति, श्रुत, अवधिज्ञान के धारी थे, आकाश में विहार करने वाले थे और एक मास के उपवासी थे। उस समय सीता ने हर्ष से रोमांचित हो रामचन्द्र से कहा कि हे देव! देखो, देखो, महातपस्वी दिगम्बर जैन मुनियों का युगल देखो। तत्क्षण ही रामचन्द्र श्रद्धा से विभोर हो आगे बढ़े, दोनों दम्पत्तियों ने उनके सन्मुख जाकर पड़गाहन करके विधिवत् नवधाभक्ति की और आहार देना प्रारंभ किया, वह आहार वन में उत्पन्न हुई गायों और भैंसों के ताजे मनोहर घी, दूध तथा उनसे निर्मित अन्य मावा आदि पदार्थों से बना हुआ था, खजूर, इंगुद, आम, नारियल, रसदार बेर तथा भिलावा आदि फलों से निर्मित था। इस प्रकार शास्त्रोक्त शुद्धि से सहित नाना प्रकार के खाद्य पदार्थों से उन मुनियों ने आहार ग्रहण किया, उन मुनियों का चित्त भोजनसंबंधी गृद्धता से रहित था।

उत्तम पात्र, उत्तम दातार और उत्तम दान के प्रभाव से आकाश से देवों द्वारा पंचाश्चर्यवृष्टि होने लगी, दिव्यरत्न और पुष्प बरसने लगे। इधर मध्य में ही एक विचित्र घटना घटी।

उसी आहार के समय महावृक्ष पर एक गृद्ध पक्षी बैठा हुआ था। अतिशयपूर्ण उन दोनों मुनिराजों को देखकर उसे अपने अनेकों भवों पूर्व का स्मरण हो गया। उसके पश्चात्ताप और शोक का ठिकाना नहीं रहा तथा मुनियों के दर्शन से अत्यधिक हर्ष को प्राप्त हुआ। वह पक्षी दोनों पंख फड़फड़ाकर वृक्ष के शिखर पर से नीचे आ गया, इधर सीता इस पक्षी को देखकर क्रोध से आकुलित चित्त होकर कठोर शब्दों में बोलने लगी कि हा मातः! यहाँ इस अत्यधिक कोलाहल

से हाथी तथा सिंहादिक बड़े-बड़े जन्तु तो भाग गये पर यह दुष्ट नीच पक्षी क्यों नहीं भागा? इस पापी गृद्ध की धृष्टता तो देखो! इस प्रकार सीता ने यद्यपि प्रयत्नपूर्वक उस पक्षी को रोका था तथापि वह बड़े उत्साह से मुनिराज के चरणोदक को पीने लगा। उसके प्रभाव से उसका शरीर रत्नराशि के समान तेज से व्याप्त हो गया, उसके दोनों पंख सुवर्ण के हो गये, पैर नीलमणि के समान दिखने लगे, शरीर नाना रत्नों की कांति का धारक हो गया और चोंच मूँगा के समान दिखने लगी। वह पक्षी अपना ऐसा रूप देखकर हर्ष से गद्‌गद हो नृत्य करने लगा और मधुर शब्द करने लगा। उस समय जो आकाश से देवदुंदुभि का शब्द हो रहा था, वही उसके नृत्य में सुन्दर ताल का काम दे रहा था।

दोनों मुनिराज विधिपूर्वक पारणा कर वैडूर्यमणि की शिला पर विराजमान हो गये। वह गृद्ध पक्षी भी दोनों मुनियों की प्रदक्षिणा देकर अपने पंख संकुचितकर तथा मुनिराज के चरणों में प्रणाम कर अंजली बांधकर सुख से बैठ गया। उस समय श्री रामचन्द्र ने उस गृद्धपक्षी के रूप को देखकर आश्चर्यान्वित हो गुरुदेव से प्रश्न किया कि हे भगवन्! यह पक्षी तो पहले अत्यन्त कुरूप था पर अब क्षणभर में सुवर्ण तथा रत्नराशि की कांति के समान कैसे हो गया? महा अपवित्र, मांसाहारी, दुष्ट हृदय का धारक आपके चरणों में बैठकर अत्यन्त शांत कैसे हो गया?

सुगुप्ति मुनिराज बोले कि हे राजन्! पहले यहाँ नाना जनपदों से व्याप्त एक बहुत बड़ा देश था, इसी में एक "कर्णकुंडल" नाम का बहुत ही सुन्दर नगर था। इस नगर में महाप्रतापी "दंडक" नाम का राजा राज्य करता था। हे रघुनंदन! राजा की रानी परिव्राजकों की परमभक्ता थी और राजा दंडक रानी के वशीभूत होने से उसी धर्म का आश्रय लेता था। एक दिन राजा नगर के बाहर निकला और भुजा लटकाये हुए ध्यानमग्न दिगम्बर जैन मुनिराज को देखा। अकारण ही राजा ने मुनिराज के गले में एक मरा हुआ काला साँप डलवा दिया। जब तक इस साँप को कोई अलग नहीं करता है, तब तक मैं ध्यान नहीं छोड़ूँगा, ऐसी प्रतिज्ञा करके वे मुनि वहीं खड़े रहे।

तदनन्तर बहुत रात्रियाँ व्यतीत हो जाने के बाद कोई मनुष्य मुनिराज के गले से सर्प अलग कर रहा था। राजा दंडक भी अकस्मात् उसी मार्ग से निकले और पूछा कि यह क्या है? उसने कहा—राजन्! नरक की खोज करने वाले किसी ने यह सर्प मुनिराज के गले में डाला है। उस साँप के निमित्त से मुनिराज का शरीर काला और अत्यन्त भयंकर हो गया था। मुनि द्वारा कुछ भी प्रतीकार

नहीं देख मुनि के शान्त परिणाम से प्रभावित हो राजा ने उन्हें प्रणाम कर क्षमा माँगी और उसी समय से वह दिगम्बर मुनियों का भक्त बन गया।

इधर रानी के साथ गुप्त समागम करने वाले परिव्राजकों के अधिपति ने जब राजा के इस परिवर्तन को जाना, तब क्रोध से युक्त हो जीवन का स्नेह छोड़कर निर्ग्रन्थ मुनि का रूप धर रानी के साथ संपर्क किया। राजा को इस बात का पता चलते ही वह अत्यन्त कुपित हुआ और पहले जो दिगम्बरों की निन्दा सुनता रहता था, वह इसकी स्मृति में झूलने लगा। उसी समय धर्मद्वेषी लोगों से भी प्रेरित हुए राजा ने सेवकों से कहा कि समस्त दिगम्बर मुनियों को घानी में पेल दो। जिसके फलस्वरूप आचार्यों के साथ-साथ समस्त मुनि संघ घानी में पेल डाला गया और मृत्यु को प्राप्त हो गया। उस समय एक मुनि कहीं बाहर गये थे, जो वापस आ रहे थे, उन्हीं किसी दयालु मनुष्य ने यह कहकर रोका कि हे मुनिराज! तुम इस समय इस नगरी में मत जावो, अन्यथा घानी में पेल दिये जावोगे। राजा ने समस्त मुनियों को घानी में पिलवा दिया है।

यह सुनते ही वे मुनि समस्त संघ की मृत्यु से क्षणभर के लिए स्तम्भवत् निश्चल रह गये, उनकी चेतना अव्यक्त हो गई, अर्थात् मृतकवत् स्तब्ध रह गये। अनन्तर उस निर्ग्रन्थ मुनिरूपी पर्वत की शान्तिरूपी गुफा से सैकड़ों दुःखों से प्रेरित हुआ, क्रोधरूपी सिंह बाहर निकला। क्रोध से सन्तप्त मुनिराज के मुख से 'हा' शब्द निकला पुनः धुआँ के साथ ऐसी भयंकर अग्नि निकली, जिसने ईंधन के बिना ही समस्त आकाश को देदीप्यमान कर दिया। चारों तरफ से हाहाकार मच गया, यह लोक क्या उल्काओं से व्याप्त हो गया है, या ज्योतिष्क देव नीचे गिर रहे हैं? या महाप्रलय काल आ पहुँचा है? या अग्निदेव कुपित हो गये हैं? हाय माता! यह क्या है? यह ताप अत्यन्त दुःसह है ऐसा लगता है कि बड़ी-बड़ी संडासियों से नेत्र उखाड़े जा रहे हैं। इस प्रकार अत्यन्त भयंकर हाहाकार से जब तक लोक गूँजता है, तब तक उस अग्नि ने समस्त देश को भस्म कर दिया। उस समय न अन्तःपुर, न देश, न नगर, न पर्वत, न नदियाँ, न जंगल और न प्राणी ही शेष रह गये। महान् संवेग से युक्त मुनिराज ने जो चिरकाल तक तप संचय किया था, वह सब क्रोधाग्नि में भस्म हो गया फिर दूसरी वस्तुएँ तो बचती ही कैसे? यह वन वही दण्डक देश था और राजा का नाम भी दण्डक नाम से प्रसिद्ध था। बहुत समय बीत जाने के बाद यहाँ की भूमि में ये वृक्ष, पर्वत और नदियाँ दिखाई देने लगे हैं। आज भी इस वन के प्रचण्ड दावानल का शब्द सुनकर मनुष्य पिछली घटना का स्मरण कर काँपने लगते हैं।

वही राजा दण्डक बहुत समय तक संसार में भ्रमण कर अब गृद्ध पर्याय को प्राप्त हुआ है। इस समय अतिशय युक्त हम दोनों को देखकर उसकी पापकर्म की मन्दता हो जाने से उसे जातिस्मरण हो गया है। दूसरे का उदाहरण भी शान्ति का कारण हो जाता है फिर यदि अपनी ही खोटी बात और उसका खोटा फल स्मरण में आ जावे तो कहना ही क्या है?

राम से इतना कहकर मुनिराज ने गृद्ध पक्षी को खूब सान्त्वना दी और सम्यग्दर्शन के साथ-साथ पंच अणुव्रत देकर उसे जैन बना दिया। मुनि बोले– देखो, पक्षिराज! यह महावन कहाँ? और सीता सहित राम कहाँ? हमारा पड़गाहन कहाँ? और तुम्हारा प्रबुद्ध होना कहाँ? कर्मों की विचित्रता के कारण यह संसार अत्यन्त विचित्र है। विनीत आत्मा का धारक यह श्रावक हम लोगों का विनोद करने वाला हो गया। ऐसा कहकर मन्दहास्य करती हुई सीता ने बार-बार उसे अपने कोमल हाथों से स्पर्श किया। मुनियों ने भी इन लोगों से कहा कि अब आप लोगों को वन में इसकी रक्षा करना उचित है, यह शान्तचित्त पक्षी बेचारा कहाँ जाएगा? गुरु की आज्ञा से सीता ने उसके पालन का भार अपने ऊपर ले लिया।

रत्नत्रय की प्राप्ति से हर्षित हुआ वह पक्षी राम और सीता के बिना कहीं नहीं जाता था। अणुव्रत आश्रम में स्थित सीता भी उसे बार-बार मुनियों का उपदेश स्मरण कराती रहती थी और धर्म की शिक्षाएँ दिया करती थीं। कभी-कभी तो सीता वीणा लेकर जिनेन्द्र के गुणों का स्तवन करती थी, तब वह पक्षी नृत्य किया करता था, सीता भी उसे ताल दे-देकर नचाया करती थी और उसका नाम जटायु रख दिया था क्योंकि उसके शिर पर रत्ननिर्मित जटाएँ शोभायमान थीं, अतः सार्थक नामरखा था। वह जटायु तीनों संध्याओं में सीता के साथ अर्हन्त, सिद्ध और साधुओं को नमस्कार करता था। सीता सदा ही धर्मप्रेम से उसे स्वादिष्ट फलों को खिलाया करती थी। वह सदैव ही जिनेन्द्र भगवान को अपने हृदय में धारण करता हुआ, रामचन्द्र, सीता और लक्ष्मण के पास क्रीड़ा करता था।

सुधा– माताजी! इस कथा से आहारदान के उत्तम फल के बोध के साथ-साथ हमें यह भी मालूम हो गया कि मुनियों का चरणोदक भी कितना पूज्य, पवित्र और महत्वशाली है। वे धन्य हैं जिन्हें मुनियों और आर्यिकाओं के चरणोदक को मस्तक में लगाने का सुअवसर प्राप्त होता है।

आर्यिका– हाँ बेटी! रत्नत्रय से पवित्र साधुओं के चरणोदक और चरणरज को मस्तक पर चढ़ाकर अपना जीवन पवित्र करना चाहिए।

भाग्य का चमत्कार

शशिप्रभा—बहन कनक! अन्य ही कोई श्रम करे और उसका लाभ अन्य ही किसी को हो जावे, आज मैंने ऐसी घटना देखी है, जिससे मुझे बड़ा ही आश्चर्य हो रहा है। यह कर्म सिद्धान्त क्या है?

कनकलता—बहन सुनो, मैं एक ऐतिहासिक घटना सुनाती हूँ, पुनः कर्मसिद्धान्त को बताऊँगी। अलंकारपुर का स्वामी खरदूषण था, वह चौदह हजार प्रमाण मनुष्यों का विश्वासप्राप्त सेनापति था। उसकी पत्नी चन्द्रनखा नाम की अतिशय सुन्दरी थी, जो कि रावण की बहन थी, उसके शंबूक और सुन्दर ऐसे दो पुत्र हुए थे। साथ ही वह रावण के संबंध से पृथ्वी पर गौरव को प्राप्त हुआ था।

किसी समय "सूर्यहास" खड्ग को सिद्ध करने की इच्छा से शंबूक ने विधिवत् अनुष्ठान किया। वह वंशस्थल पर्वत पर बाँस की झाड़ी में बैठकर मंत्र जपने लगा। वह निर्मल बुद्धि का धारक जितेन्द्रिय ब्रह्मचर्य को पालन करने वाला एक अन्न खाता था। प्रतिदिन उसकी माता चन्द्रनखा विद्याधरी विद्या के बल से वहाँ आकर भोजन देकर जाती थी। बारह वर्ष व्यतीत हो जाने पर 'सूर्यहास' खड्ग सिद्ध हो गया। यह सात दिन ठहर कर ग्रहण करने योग्य होता है, अन्यथा सिद्ध करने वाले को मार डालता है। चन्द्रनखा पुत्रस्नेह से बार-बार वहाँ आती रहती थी, उसने उसी क्षण उत्पन्न हुए, देवाधिष्ठित सूर्यहास खड्ग को देखा, वह प्रसन्न होकर अपने पति खरदूषण से जाकर बोली–हे देव! मेरा पुत्र मेरुपर्वत की प्रदक्षिणा देकर तीन दिन में आ जावेगा। अभी उसका नियम समाप्त नहीं हुआ है।

इधर राम, लक्ष्मण और सीता वन में घूमते हुए वहीं आ पहुँचे थे। उसी दिन लक्ष्मण घूमते हुए वहाँ पहुँच गये। कुछ विशेष सुगंधि से आकृष्ट हुए। वे लक्ष्मण बांस की झाड़ी तक पहुँच गये, सूर्यहास खड्ग की एक हजार देव पूजा कर रहे थे। उसमें स्वाभाविक उत्तम गंध थी, उसका आदि और अन्त नहीं था, उसमें दिव्य गंध लिप्त थी और दिव्य मालाओं से वह अलंकृत थी। वहाँ बाँसों से विस्तृत स्तंभ में देदीप्यमान किरण से सुशोभित दिव्य खड्ग उसे दिखाई दिया। आश्चर्यचकित लक्ष्मण ने निःशंक हो वह खड्ग ले लिया और उसकी तीक्ष्णता की परख करने के लिए उसी बांस के बीड़े को काट डाला। उससे शंबूक का वध हो गया। खड्गधारी लक्ष्मण को देखकर वहाँ सब देवताओं ने 'आप हमारे स्वामी हो' ऐसा कहकर नमस्कार के साथ उनकी

पूजा की। इधर रामचन्द्र ने जटायु से कहा कि आज लक्ष्मण बहुत ही देर कर रहा है, हे भद्र जटायु! उठो और शीघ्र ही आकाश में उड़कर लक्ष्मण की खोज करो। इतने में ही सीता ने अंगुली ऊपर उठाकर कहा कि हे देव! जिनका शरीर केशर से लिप्त है, नाना प्रकार की मालाओं, वस्त्रों और अलंकारों से अलंकृत ये लक्ष्मण आ रहे हैं, इनके हाथ में देदीप्यमान एक खड्ग है। लक्ष्मण को वैसा देख रामचन्द्र अपने हर्ष को रोकने में असमर्थ हुए और उठकर लक्ष्मण को आलिंगन करके सब समाचार विदित किया। उस समय राम, लक्ष्मण और सीता नाना प्रकार की कथाएँ करते हुए वहाँ सुख से बैठे हुए थे।

शशिप्रभा—बेचारी शंबूक की माता चन्द्रनखा जब वहाँ आई होगी, तब उसका क्या हाल हुआ होगा?

कनकप्रभा—बहन सुनो, उसकी भी घटना बड़ी रोमांचकारी है। वह वहाँ आई और बाँसों के उस स्तंभ को कटे हुए देखकर सोचने लगी, अहो! पुत्र ने यह अच्छा नहीं किया, जिस पर बैठकर विद्या सिद्ध की, उस सूर्यहास खड्ग की परीक्षा के लिए उसे ही काट डाला, ऐसा सोचते हुए घूमते-घूमते एक तरफ कुंडलों से युक्त सिर और एक ओर ठूंठ के बीच पड़ा हुआ पुत्र का धड़ देखा, उसी क्षण वह दुःख के वेग को न सह सकने से मूर्च्छित हो गई। सचेत होने पर हाहाकार से धरती कूट-कूट कर विलाप करने लगी। मेरा पुत्र बारह वर्ष और चार दिन तक यहाँ रहा, हाय देव! इसके आगे तूने तीन दिन सहन नहीं किये। इस प्रकार पुत्र के सिर को गोद में रखकर विलापन करते-करते जिसके नेत्र मूँगा के समान लाल हो गये थे, ऐसी उस चन्द्रनखा ने पुत्र का चुम्बन किया। कुछ क्षण बाद वह शोक छोड़कर उठी और क्रोध से इधर-उधर घूमने लगी।

उसी समय उसने दोनों तरुण–राम लक्ष्मण को देखा। तत्क्षण ही उसका शोक और क्रोध पलायमान हो गया और उसके स्थान पर राम ने अपना अधिकार जमा लिया। उसके मन में तरंगें उठने लगीं कि मैं इन दोनों में से अपने इच्छुक पुरुष को वरूँगी। ऐसा विचार कर वह कन्या भाव को प्राप्त हुई, वह हाथ की अंगुलियाँ चटखाती हुई भयभीत मुद्रा में पुन्नाग वृक्ष के नीचे बैठकर रोने लगी। अत्यन्त दीन शब्दों से रुदन करती हुई और वन की धूलि से धूसरित उस कन्या को देखकर सीता का हृदय दया से द्रवीभूत हो गया। वह उठकर उसके पास जाकर प्रेम से शरीर पर हाथ फेरने लगी। 'डरो मत' यह कहकर उसके हाथ पकड़कर अपने पति के पास ले आई। उस समय वह कुछ-कुछ लज्जित हो रही

थी और मलिन वस्त्र धारण किये हुए थी। सीता उसे सान्त्वना दे रही थी।

शशिप्रभा–बहन फिर क्या हुआ?

कनकप्रभा–उस समय राम ने पूछा–हे कन्ये! जंगली जानवरों से भरे हुए वन में अत्यन्त दुःखी तू कौन है? तब वह कन्या बोली कि हे पुरुषोत्तम! मूर्च्छा आने पर मेरी माता मर गई और उनके शोक में पिता भी मर गये। पूर्वोपार्जित पाप के कारण बंधुजनों से रहित हो परम वैराग्य को धारण करती हुई इस दण्डक वन में मैं आई हूँ। पाप के माहात्म्य को तो देखो जो कि इस भयंकर वन में भी दुष्ट जीव मुझे नहीं खा जाते हैं। कुछ पाप कर्म के क्षय से ही आज आप जैसे सज्जनों का दर्शन हुआ है अतः सुन्दर! जब तक मैं प्राण नहीं छोड़ती हूँ, तब तक आप ही मुझे चाहो और मुझ दुःखिनी पर दया करो। जो न्याय से संगत साध्वी हैं, ऐसी कन्या को भला कौन नहीं चाहेगा?

उस समय राम-लक्ष्मण उसके लज्जाशून्य वचन सुनकर परस्पर में एक दूसरे को देखते हुए चुप रह गये। समस्त शास्त्रों के ज्ञानरूपी जल से धुला हुआ उनका मन उचित और अनुचित कार्यों में कुशल था। तब दुःख भरी श्वांस छोड़कर उसने कहा कि मैं जाती हूँ, तब राम ने उत्तर दिया कि जैसी तुम्हारी इच्छा हो, वैसा ही करो। उसके जाते ही उसकी अकुलीनता को देखकर राम, लक्ष्मण, सीता के साथ आश्चर्यचकित हो हंसने लगे। इधर शोक से व्याकुल हुई वह चन्द्रनखा मन मारकर क्रुद्ध हो उड़कर शीघ्र ही अपने घर चली गई। इसके बाद उसने वहाँ जाकर अपने पति के पास पुत्र मरण की घटना सुनाई और कहा कि वहाँ पर स्थित दो पुरुषों ने मेरा शीलहरण करना चाहा था, सो मैं बड़ी मुश्किल से अपनी रक्षा करके यहाँ आई हूँ, ऐसा मायाजाल फैलाया। उसी समय खरदूषण के युद्ध में रावण द्वारा सीता का हरण हुआ है, यह सारी घटना पद्मपुराण से देखना।

शशिप्रभा–वास्तव में आज आपकी कथा से मुझे यह शिक्षा मिली है कि एक के फल को अन्य भी प्राप्त कर लेता है।

कनकप्रभा–नहीं बहन, ऐसी बात नहीं है, अब कर्म सिद्धान्त को समझो। पूर्वजन्म में जिसने पुण्य किया है, उसे इसी प्रकार से बिना श्रम के ही अनेक लाभ हुआ करते हैं, उसमें अन्य तो निमित्त बन जाते हैं और जिसने पूर्व जन्म में पापों का संचय किया है, उसके हाथ में आई हुई ऐसी-ऐसी वस्तुएँ भी नष्ट हो जाती हैं, या दूसरे ही उसके मालिक बनकर उसका उपभोग करते हैं। इसलिए

पुण्य-पाप के सिद्धान्त को समझकर सदैव पुण्य का ही संचय करना चाहिए। देखो! भाग्य के चमत्कार को। जो कि लक्ष्मण को बिना प्रयत्न के ही सूर्यहासखड्ग प्राप्त हो गया और शंबूक के पूर्व पाप के उदय से उसी से उसका घात हो गया।

शशिप्रभा–अच्छा बहन! आपने बहुत ही बढ़िया बात बताई है।

अब मैं कर्मसिद्धान्त पर पूर्णतया विश्वास रखूँगी। इस भावना से किसी पर दोषारोपण करने का प्रसंग नहीं आयेगा और तब किसी से शत्रुता भी नहीं होगी।

णमोकार मंत्र स्तवन

–आर्यिका चन्दनामती

–शिखरिणी छंद–

णमो अरिहंताणं, नमन है अरिहंत प्रभु को।
णमो सिद्धाणं में, नमन कर लूँ सिद्ध प्रभु को।।
णमो आइरियाणं, नमन है आचार्य गुरु को।
णमो उवज्झायाणं, नमन है उपाध्याय गुरु को।।1।।

णमो लोए सव्वसाहूणं पद बताता।
नमन जग के सब साधुओं को करूँ जो हैं त्राता।।
परमपद में स्थित कहें पाँच परमेष्ठि इनको।
नमन इनको करके लहूँ इक दिन मुक्ति पद को।।2।।

सभी के पापों को शमन करता मंत्र यह ही।
तभी सब मंगल में प्रथम माना मंत्र यह ही।।
जपें जो भी इसको वचन मन कर शुद्ध प्रणति।
लहें वे इच्छित फल, हृदय नत हो चन्दनामति।।3।।

उपवास के गुण

सुषमा—बहन जी! मेरी माँ खूब उपवास करती हैं, क्या करें? उन्हें कैसे समझायें? देखो! न केवल वे शरीर को सुखाती रहती हैं, क्या उपवास से मोक्ष मिल सकता है? उन्हें आत्मा का ज्ञान तो बिल्कुल है ही नहीं।

अध्यापिका—सुषमा, तुम्हें ये कैसे मालूम है कि तुम्हारी माँ को आत्मज्ञान नहीं है?

सुषमा—हाँ जी, उन्होंने कभी भी समयसार का स्वाध्याय नहीं किया है। मैं कुछ कहती हूँ, तो मुझे ही शिक्षा देने लगती हैं और कहती हैं कि देख! तुझे महीने में एक उपवास अवश्य करना चाहिए और मुझे तो उपवास के नाम से बड़ी चिढ़ आती है, मैं 365 दिनों के अन्दर जब भादों के अनन्त चतुर्दशी के दिन उपवास करती हूँ, तो रात्रि भर नक्षत्र गिनते-गिनते खूब आकुलतापूर्वक रात बीतती है। दिन निकलते ही जल्दी से मेरी माँ बादाम का हलुआ खिलाती है, तब कहीं चैन पड़ती है।

अध्यापिका—सुषमा देखो, तुम्हारी माँ की यदि शरीर से कुछ ममता कम नहीं हुई है, तो वे कैसे उपवास करती हैं? अरे! तुम तो एक उपवास से ही घबरा जाती हो, क्या कारण है, यही कारण है कि तुमने शरीर को अपना मान रखा है और उसी के सुख में सुखी तथा दुःख में दुखी हो जाती हो। देखो! जिनको सम्यग्दर्शन प्रगट होकर आत्मज्ञान हो गया है, वे समझते हैं कि—

यज्जीवस्योपकाराय, तद्देहस्यापकारकम्।
यद्देहस्योपकाराय, तज्जीवस्यापकारकम्।।

ऐसा श्री पूज्यपादस्वामी ने कहा है कि जिससे जीव का उपकार होता है, उससे शरीर का अपकार होता है और जिससे शरीर का उपकार होता है, उससे जीव का अपकार होता है। इन उपवासों से यद्यपि शरीर को कुछ कष्ट अवश्य होता है किन्तु सम्यग्दृष्टि संसार के अनन्त कष्टों के आगे उसे कुछ नहीं गिनते हैं और शरीर को दुर्जन या नौकर के समान समझकर उसे अपने आत्महित में लगाते हैं। इसका मतलब यह भी नहीं है कि वे इसे नष्ट कर देते हैं। नहीं, इसकी रक्षा के लिए संयम से भोजन देकर संयमित जीवन बनाते हैं और अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं। अरे! क्या तुम्हें मालूम नहीं है कि—

3. **''मूलं संसारदुःखस्य देह एव आत्मधीस्तथा।''**

शरीर में आत्मबुद्धि का होना ही संसार के दुःखों का मूल कारण है। तुम्हारी माँ बहुत समझदार है, उन्होंने तत्त्व को समझ लिया है भले ही उसका शास्त्रीय ज्ञान क्यों न कम हो!

सुषमा—क्या बिना तपश्चर्या के मुक्ति नहीं मिलती है?

अध्यापिका—मुक्ति तो शरीर से पूर्णतया निर्मम होने से होती है, जो शरीर से बिल्कुल निस्पृह होकर आत्मा का ध्यान करते हैं, वे मुक्त होते हैं। फिर प्रारंभिक अवस्था में शरीर से ममता घटाने के अभ्यास के लिए उपवास-व्रत आदि भी अवश्य करणीय हो जाते हैं। देखो ''चौबीस तीर्थंकरों ने अपने पूर्वभव में गुरु के पास दीक्षा लेकर ग्यारह अंगों का अध्ययन किया है। एक ऋषभदेव मात्र ग्यारह अंग चौदह पूर्वों के पाठी थे। चौबीस तीर्थंकरों ने ही पूर्वभव में 'सिंहनिष्क्रीडीत' नाम के महान व्रत को किया था और गुरु के पादमूल में सोलह कारण भावनाएँ भायी थीं। अनन्तर अन्त में सभी ने एक-एक महीने का उपवास ग्रहण कर प्रायोपगमन संन्यास से सल्लेखना मरण किया था। सभी ही अपने-अपने भावों के अनुसार सर्वार्थसिद्धि, ग्रैवेयक या स्वर्ग में इन्द्र हुए थे पुनः ये भारतवर्ष में ऋषभदेव से लेकर महावीर तक चौबीस तीर्थंकर हुए हैं। यह वर्णन हरिवंशपुराण में है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि उपवास कितने महत्त्व की चीज है।

सुषमा—जो कर्मक्षय की भावना से करते हैं, उनके लिए ठीक कहो किन्तु जो अनेक भोगों की प्राप्ति हेतु करते हैं, उन्हें तो पाप ही होगा।

अध्यापिका—उन्हें भी तो पाप नहीं होगा प्रत्युत् तपश्चरण से अलौकिक सुख मिल जावेंगे किन्तु कर्मों का नाश नहीं होगा। हर स्थिति में उपवास गुणकारी है। देखो! शरीर में कष्ट सहन करने की हिम्मत आती है। यदि सीता ने बचपन में राजघराने में उपवास का अभ्यास नहीं किया होता, तो क्या एकदम रावण के घर में ग्यारह उपवास कर सकती थीं? दूसरी बात यह है कि उपवास से स्वास्थ्य ठीक बना रहता है। वृहत्पल्य, चक्रवाल आदि के उपवासों से तो अगणित उपवासों का फल मिलता है। नन्दीश्वर पर्व में भी विधिवत् आष्टान्हिकाव्रत करने से निम्नलिखित फल मिलता है।

कार्तिक, फाल्गुन और आषाढ़ शुक्ला अष्टमी से पूर्णिता पर्यन्त यह व्रत किया जाता है। सुदी में सप्तमी को एकाशन करके अष्टमी को उपवास, नवमी को एकाशन, दशमी को पानी और भात, एकादशी को अवमौदर्य, द्वादशी को

एकाशन, तेरस को इमली और भात, चौदश को त्रिवेली और भात तथा पूर्णिमा को उपवास करें। क्रम से अष्टमी के उपवास से दस लाख उपवास का फल है। ऐसे ही नवमी के एकाशन से दस हजार उपवासों, दशमी के व्रत से साठ लाख प्रोषध, एकादशी को एक लाख उपवास, द्वादशी को चौरासी लाख उपवास, तेरस को चालीस लाख उपवास, चौदस को एक लाख उपवास और पूर्णिमा को साढ़े तीन करोड़ उपवास का फल होता है, यह व्रत प्रतिवर्ष में तीन-तीन बार किया जाता है। इस प्रकार आठ वर्ष, पाँच वर्ष या तीन वर्ष तक किया जाता है।

सुषमा—तब तो अभ्यास के लिए मुझे भी महीने में एक उपवास अवश्य करना चाहिए।

अध्यापिका—वैसे तो दो अष्टमी और दो चतुर्दशी, ऐसे एक महीने में चार पर्व आते हैं, इन चारों दिन उपवास का विधान है। यदि नहीं हो सके तो कम से कम एक उपवास की आदत अवश्य डालना चाहिए। यह ध्यान रखना चाहिए कि उपवास करने वालों की निन्दा-उपहास कभी भी नहीं करें क्योंकि आत्मज्ञानी तो शरीर से अधिक निस्पृह होते हैं, फिर उनका कर्तव्य है कि उपवास करने वालों को तपस्वी मानकर उनका अनुसरण करें, सर्वत्र गुणग्राहकता होना चाहिए।

सुषमा—अब मैं अपनी माँ से बहस नहीं करूँगी। प्रत्युत् उन्होंने मुझे जिनगुणसंपत्ति व्रत के लिए कहा था, मैं उसकी विधि समझ लूँगी और महीने में एक-दो व्रत जितने बन सकेंगे, करती रहूँगी।

विश्वशांति मंत्र

ॐ ह्रीं विश्वशांतिकराय
श्री शांतिनाथाय नमः।

1. पृष्ठ एक पर—इष्टोपदेश, श्री पूज्यपादरचित।
2. पृष्ठ एक पर—समाधिशतक।
3. पृष्ठ एक पर—पोषत तो दुःख दोष करें अति, शोषत सुख उपजावे।
दुर्जन देह स्वभाव बराबर, मूरख प्रीति बढ़ावे।।
-वैराग्य भावना

अनेकांत

माधुरी—बहन श्रीकांता! आप स्वाध्याय खूब करती हैं बताइए, अनेकांत किसे कहते हैं?

श्रीकांता—बहन! जैन धर्म का मूल सिद्धान्त अनेकांत ही है, इसलिए इसको समझना बहुत ही जरूरी है, सुनो, मैंने जितना समझा है, उतना तुम्हें समझाती हूँ।

प्रत्येक वस्तु में अनेकों धर्म हैं। "अनैक अंताःधर्माः यस्मिन् असौ अनेकांताः" जिसमें अनेकों अंत–धर्म पाये जाते हैं उसे अनेकांत कहते हैं। जैसे जीव में अस्ति-नास्ति, नित्य-अनित्य, एक-अनेक आदि अनन्तों धर्म विद्यमान हैं। अथवा जैसे आप किसी की बहिन हैं, किसी की पुत्री हैं, किसी की माता हैं, किसी की मौसी हैं, किसी की भानजी हैं, इत्यादि अनेकों धर्म आपमें मौजूद हैं।

कथंचित् की शैली में सभी धर्मों को जाना जाता है। जैसे जीव कथंचित् नित्य है, कथंचित् अनित्य है।

माधुरी—बहन! यदि जैनधर्म अनेकांत रूप है, तब तो अनेकांत में भी अनेकांत लगाना पड़ेगा और यदि अनेकांत में अनेकांत नहीं घटित करोगी, तब तो आपके जैनधर्म का मूल सिद्धान्त बाधित हो जावेगा।

श्रीकांता—हाँ, अनेकांत में भी अनेकांत लगता है, ऐसा श्री समन्तभद्र स्वामी ने स्पष्ट कहा है—

अनेकांतोऽप्यनेकांतः प्रमाणनयसाधनः।
अनेकांतः प्रमाणात्ते तदेकांतोऽर्पितान्नयात्।।

अर्थ—अनेकांत भी अनेकांतरूप है, वह प्रमाण और नय से सिद्ध होता है। हे भगवन्! आपके यहाँ प्रमाण से अनेकांत सिद्ध होता है और अर्पित नय से एकांत सिद्ध होता है। अन्यत्र अष्टसहस्री ग्रंथ में भी कहा है—

अनेकांतात्मक वस्तु को प्रमाण विषय करता है, अर्पित एकांत को नय ग्रहण करता है और सर्वथा पर की अपेक्षा न करके एकांत को ग्रहण करने वाला दुर्नय कहलाता है।

माधुरी—इस कथन को उदाहरण देकर समझाइए।

श्रीकांता—जीव नित्यानित्यात्मक है, यह द्रव्यदृष्टि से नित्य है क्योंकि जीवद्रव्य का त्रैकालिक नाश नहीं होगा, वैसे ही जीव पर्यायदृष्टि से अनित्य है क्योंकि मनुष्यपर्याय का नाश होकर नूतन देवपर्याय का उत्पाद प्रसिद्ध है। इन

नित्यानित्यात्मक जीवद्रव्य को प्रमाणज्ञान जानता है।

प्रमाण के द्वारा गृहीत वस्तु के एक-एक धर्म अंश को जानने वाला नय है। जैसे द्रव्यार्थिकनय जीव को नित्य कहता है और पर्यायार्थिकनय जीव को अनित्य कहता है। जब ये नय परस्पर में सापेक्ष रहते हैं, तब सम्यक्नय कहलाते हैं और जब एक-दूसरे की अपेक्षा न रखकर स्वतंत्र एकांत से हठपूर्वक वस्तु के एक धर्म को ग्रहण करते हैं तब मिथ्या कहलाते हैं। तभी इन्हें कुनय अथवा दुर्नय भी कहते हैं।

इस प्रकार प्रमाण की अपेक्षा रखने से अनेकांत कथंचित् अनेकांतरूप हैं और सम्यक्नय की अपेक्षा रखने से वही अनेकांत कथंचित् एकांतरूप हैं ऐसा समझो।

माधुरी—तब तो यह सिद्धान्त किसी पर न टिकने से छहरूप हो जावेगा या संशय रूप कहलायेगा।

श्रीकांता—नहीं, इसमें छल का लक्षण घटित नहीं होता है, देखो! जैसे किसी ने कहा कि "नवकंबलः" सामने वाले ने यदि ऐसा अर्थ किया कि- "नवकंबल" तब उसने कहा नहीं जी, नव का अर्थ नूतन न होकर नव संख्यावाची है अतः नो कंबल ऐसा अर्थ है और यदि सामने वाले ने कहा कि "नौ कंबल" अर्थ है, तब वह बोल पड़ा कि नहीं जी, यहाँ नव का अर्थ नूतन है। यह है छल की परिभाषा किन्तु अनेकांत में छल की कोई गुंजाइश नहीं है। यह द्रव्यार्थिकनय से वस्तु को नित्य ही कहता है और पर्यायार्थिक नय से अनित्य ही कहता है। जैसे आप अपनी माता की पुत्री ही हैं, इसमें छल कहाँ है? यहाँ तो अपेक्षा से निर्णय है ही है।

ऐसे ही यह अनेकांत संशयरूप भी नहीं है क्योंकि **"उभयकोटिस्पर्शिज्ञानं संशयः"** दोनों कोटि के स्पर्श करने वाले ज्ञान को संशय कहते हैं। जैसे शाम के समय टहलते हुए दूर से एक ठूँठ को देखा। मन में विचार आया कि यह ठूँठ है या पुरुष? किन्तु अनेकांत में ऐसा दोलायमान ज्ञान नहीं होता है बल्कि अपेक्षाकृत निर्णय रहता है।

माधुरी—जैसे आपने अनेकांत में कथंचित् लगाकर एकांत सिद्ध किया है, वैसे ही जीव हिंसा, रात्रि भोजन में भी अनेकांत लगाने में क्या बाधा है? और तब तो कथंचित् जीवहिंसा धर्म है, कथंचित् अधर्म है। ऐसे ही कथंचित् रात्रि भोजन करना धर्म है, कथंचित् अधर्म है।

श्रीकांता—बहिन! यह तो अनेकांत का उपहास है। देखो! अनेकांत वस्तु

के स्वभावरूप धर्म में घटित होता है। ये उदाहरण तो चारित्रसंबंधी हैं। दूसरी बात जहाँ "सप्तभंगी" का लक्षण किया है, वहाँ पर "एकस्मिन् वस्तुनि अविरोधेन विधिप्रतिषेध विकल्पना सप्तभंगी" ऐसा कहा है। अष्टसहस्री ग्रंथराज में श्री आचार्यवर्य विद्यानंद महोदय ने स्पष्ट किया है कि प्रत्यक्ष अनुमान और आगम से अविरुद्ध में सप्तभंगी घटित करना, ऐसा इस 'अविरोधेन' पद के ग्रहण में समझा जाता है। 'जीव हिंसा आदि धर्म है', यह आगम से विरुद्ध है, इसमें विधिनिषेध की कल्पनारूप सप्तभंगी नहीं घटेगी।

माधुरी—प्रमाण, नय और सप्तभंगी का स्वरूप हमें अच्छी तरह समझाइए।

श्रीकांता—आज इतना ही विषय याद रखो फिर कभी प्रमाण आदि के विषय में चर्चा करूँगी क्योंकि वे विषय जरा क्लिष्ट हैं।

थोड़ा-थोड़ा समझकर अवधारण करना ही सुंदर है।

माधुरी—ठीक है, फिर भी मैं परीक्षामुख पुस्तक का स्वाध्याय करके आपसे प्रश्न करूँगी, जब और अच्छा समझ में आएगा।

णमोकार मंत्र

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं
णमो उवज्झायाणं, णलो लोएसव्वसाहूणं।।

अर्हंतों को नमस्कार हो, सिद्धों को नमस्कार हो, आचार्यों को नमस्कार हो, उपाध्यायों को नमस्कार हो, लोक में सर्व साधुओं को नमस्कार हो।

इस मंत्र में अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पाँच परमेष्ठियों को नमस्कार किया है।

तीर्थंकरों के पूर्वभव के गुरु

त्रिशला—माताजी! जैसे तीर्थंकर किसी को गुरु नहीं बनाते हैं, स्वयं दीक्षा लेते हैं, वैसे ही यदि आजकल कोई पुरुष स्वयं दीक्षा ले लेवें, तो क्या बाधा है?

आर्यिका—त्रिशला! तीर्थंकर के सिवाय अन्य साधारण जनों को स्वयं दीक्षा लेने का आगम में विधान नहीं है। देखो! तीर्थंकर भी पूर्व भव में गुरुओं के पादमूल में ही दीक्षा लेते हैं, उन्हीं के पादमूल में तीर्थंकर प्रकृति का बंध करते हैं। बिना गुरु के आश्रय के तीर्थंकर प्रकृति का बंध नहीं होता है। गोम्मटसार कर्मकांड में कहा है–

पढमुवसमिये सम्मे, सेसतिये अविरदादि चत्तारि।
तित्थयर बन्ध पारम्भया णरा केवलि दुगन्ते।।93।।

प्रथमोशम सम्यक्त्व अथवा दोष द्वितीयोपशम, क्षायोपशम और क्षायिक सम्यक्त्व की अवस्था में चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक चार गुणस्थान वाले मनुष्य ही केवली भगवान अथवा द्वादशांग पारगामी श्रुतकेवली के निकट ही तीर्थंकर प्रकृति का बंध प्रारंभ करते हैं।

इसलिए तीर्थंकर के सिवाय किसी को भी स्वयं दीक्षा लेने का विधान नहीं है। दूसरी बात यह है कि गुरु दीक्षा देते समय दीक्षार्थी को मंत्रों से संस्कारित करते हैं और व्रत देते हैं।

त्रिशला—माताजी! तीर्थंकरों के पूर्वभव के गुरुओं के नाम हमें बतलाइये?

आर्यिका—सुनो! वज्रनाभि चक्रवर्ती ने अपने माता-पिता तीर्थंकर वज्रसेन के समीप दीक्षा ली थी और उन्हीं के समीप सोलहकारण भावनाओं का चिंतवन करके तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया था। अंत में उत्तम संन्यास विधि से मरण करके सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुए, वे ही भगवान ऋषभदेव हुए हैं।

राजा विमलवाहन ने अरिन्दम गुरु के पास दीक्षा लेकर ग्यारह अंगों का अभ्यास करके सोलहकारण भावनाओं द्वारा तीर्थंकर प्रकृति बांध ली, अन्त में अहमिन्द्र के सुख भोगकर अजितनाथ हुए हैं।

राजा विमलवाहन ने स्वयंप्रभजिनेन्द्र के पास दीक्षा लेकर ग्यारह अंगों का ज्ञान प्राप्त करके सोलहकारण भावनाओं के द्वारा तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर लिया। पुनः प्रथम ग्रैवेयक में अहमिन्द्र होकर संभवनाथ तीर्थंकर हुए हैं।

राजा महाबल विमलवाहन गुरु के समीप दीक्षा लेकर ग्यारह अंगों के पाठी

होकर सोलहकारण भावनाओं के बल से तीर्थंकर प्रकृति को बांधकर विजय अनुत्तर में अहमिन्द्र हुए पुनः अभिनंदन तीर्थंकर हुए हैं।

ऐसे ही राजा रतिषेण पिहितास्रव जिनेन्द्र के पादमूल में दीक्षित होकर ग्यारह अंगों में पारंगत होकर तीर्थंकर प्रकृति बांधकर ग्रैवेयक में अहमिन्द्र हुए पुनः पद्मप्रभ तीर्थंकर हुए हैं।

राजा नन्दिषेण ने अर्हन्नंदन मुनि को अपना गुरु बनाकर तीर्थंकर प्रकृति बांध ली। अनन्तर मध्यम ग्रैवेयक से आकर सुपार्श्वनाथ हुए हैं।

राजा पद्मनाभ श्रीधर जिनराज से दीक्षा लेकर तीर्थंकर प्रकृति का बंध करके ग्रैवेयक में अहमिन्द्र हुए पुनः चन्द्रप्रभ तीर्थंकर हुए हैं।

राजा महापद्म भूतहित जिनराज के समीप दीक्षा लेकर तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर प्राणत स्वर्ग के इन्द्र हुए पुनः पुष्पदंत तीर्थंकर हुए हैं।

राजा पद्मगुल्म आनन्द मुनिराज के समीप दीक्षा लेकर ग्यारह अंगों को पढ़कर तीर्थंकर प्रकृति को बांध करके पंद्रहवें स्वर्ग में इन्द्र हुए अनन्तर शीतलनाथ तीर्थंकर हुए हैं।

राजा नलिनप्रभ अनन्त जिनेश्वर के समीप दीक्षित होकर तीर्थंकर प्रकृति का बंध करके सोलहवें स्वर्ग के इन्द्र हुए पुनः श्रेयांसनाथ हुए हैं।

राजा पद्मोत्तर ने युगन्धर जिनराज के पादमूल में तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया पुनः महाशुक्र के इन्द्र होकर वासुपूज्य भगवान हुए हैं।

राजा पद्मसेन स्वर्गगुप्त केवली के समीप दीक्षित होकर तीर्थंकर प्रकृति बांध करके सहस्रार स्वर्ग में अहमिन्द्र हुए पुनः विमलनाथ भगवान हुए हैं।

राजा पद्मरथ स्वयंप्रभ जिनेश्वर के समीप दीक्षित होकर तीर्थंकर प्रकृति बंध करके अच्युत स्वर्ग में इन्द्र हुए हैं पुनः अनन्तनाथ हुए हैं।

राजा दशरथ चित्तरक्ष गुरु से दीक्षा लेकर तीर्थंकर प्रकृति का बंध करके सर्वार्थसिद्धि के अहमिन्द्र पद का सुख भोग करके धर्मनाथ तीर्थंकर हुए हैं।

राजा सिंहरथ ने यतिवृषभ को गुरु बनाकर तीर्थंकर प्रकृति बांध ली, अन्त में सर्वार्थसिद्धि से आकर कुंथुनाथ तीर्थंकर हुए हैं।

राजा धनपति ने अर्हन्नंदन तीर्थंकर से दीक्षा लेकर तीर्थंकर प्रकृति बांध करके अहमिन्द्र पद पाया पुनः अरनाथ तीर्थंकर हुए हैं।

राजा वैश्रवण ने श्रीनाग मुनिराज के समीप दीक्षा लेकर तीर्थंकर प्रकृति को बांधकर अहमिन्द्र पद प्राप्त किया पुनः मल्लिनाथ तीर्थंकर हुए हैं।

राजा हरिवर्मा ने अनन्तवीर्य मुनिराज के निकट संयम धारण कर तीर्थंकर प्रकृति बांधी पुनः प्राणत स्वर्ग के इन्द्र होकर मुनिसुव्रत तीर्थंकर हुए हैं।

राजा सिद्धार्थ ने महाबल केवली के पादमूल में दीक्षित होकर तीर्थंकर प्रकृति बांधी पुनः अहमिन्द्र के सुख को भोगकर नेमिनाथ हुए हैं।

राजा सुप्रतिष्ठ ने सुमन्दर जिनेन्द्र के समीप दीक्षा लेकर तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर लिया, पुनः अहमिन्द्र सुख को भोगकर भगवान नेमिनाथ हुए हैं।

राजा आनन्द ने समुद्रगुप्त मुनिराज के समीप दीक्षा ली थी, तीर्थंकर प्रकृति बांधकर अन्त में अच्युत स्वर्ग में इन्द्र हुए, वहाँ से आकर भगवान पार्श्वनाथ हुए हैं।

राजा नन्द ने प्रौष्ठिल नाम के गुरु के समीप संयम धारण किया और तीर्थंकर प्रकृति को बांध करके अन्त में अच्युत स्वर्ग के इन्द्र पद को प्राप्त किया अनन्तर भगवान महावीर हुए हैं।

इनमें भगवान[1] ऋषभदेव पूर्वभव में चक्रवर्ती थे तथा मुनि अवस्था में चौदह पूर्वों के धारक थे और शेष तीर्थंकर पूर्वभव में महामण्डलेश्वर थे तथा मुनि अवस्था में ग्यारह अंग के वेत्ता थे। ये सभी तीर्थंकर पूर्वभव में भी सुवर्ण के समान कान्ति वाले थे, सभी ने पूर्व भव में दीक्षित अवस्था में सिंहनिष्क्रीडित तप कर एक महीने के उपवास के साथ प्रायोपगमन संन्यास धारण किया था और यथायोग्य स्वर्गों में उत्पन्न हुए थे।

त्रिशला–आज मुझे तीर्थंकरों के पूर्व भवों की विशेषता और उनके गुरुओं का नाम जानकर बहुत खुशी हुई है।

सरस्वती मंत्र

ॐ ह्रीं श्रीं वद वद वाग्वादिनि भगवति सरस्वति ह्रीं नमः।

1. पृष्ठ नं. 1 पर अजितनाथ और धर्मनाथ के गुरु का नाम हरिवंशपुराण से लिया है। बाकी सभी उत्तर पुराण के आधार से है। पृष्ठ नं. 3 हरिवंशपुराण, पृ. 718।

अभक्ष्य किसे कहते हैं?

सुषमा–माताजी! अभक्ष्य किसे कहते हैं?

माताजी–जो भक्षण करने योग्य न हो, वे अभक्ष्य कहलाते हैं। श्री स्वामी समन्तभद्राचार्य ने अभक्ष्य को बतालते हुए कहा है–

त्रसहति परिहरणार्थम्, क्षौद्रं पिशितं प्रमादपरिहृतये।
मद्यं च वर्जनीयं, जिनचरणौ शरणमुपयातैः।।84।।

जिनेन्द्रदेव के चरणयुगल की शरण लेने वाले श्रावक त्रस जीवों की हिंसा का परित्याग करने के लिए मधु और मांस का त्याग कर देवें और प्रमाद दूर करने के लिए मद्य का सर्वथा त्याग कर देवें।

अल्पफलबहुविघातान्, मूलकमार्द्राणि शृंगवेराणि।
नवनीतनिंबकुसुमं, कैतकमित्येवमवहेयम्।।85।।

जिनमें लाभ थोड़ा हो और बहुत से प्राणियों का घात होवे, ऐसे मूली, गीली अदरक, मक्खन, नीम के फूल तथा ऐसी ही वस्तुओं का त्याग कर देवें–इनको नहीं खावें।

सुषमा–तब तो माताजी! आलू, अरबी आदि तो अभक्ष्य कैसे हुए? ये तो भक्ष्य ही रहेंगे?

माताजी–आलू आदि कंदमूल पदार्थ भी अभक्ष्य हैं, चूँकि अनन्तकायिक हैं, जैसे कि मूली और गीली अदरक।

सुषमा–इनका नाम तो ऊपर नहीं आया है फिर कैसे ये अनन्तकायिक हैं?

माताजी–हाँ सुनो! तुम्हें गोम्मटसार जीवकांड ग्रंथ के आधार से मैं समझाऊँ–

उदये दु वणप्फदि कम्मस्स य जीवा वणप्फदी होंति।
पत्तेयं सामण्णं पदिट्ठिदिदरे य पत्तेयं।।85।।

स्थावर नाम कर्म के अवांतर भेद ऐसे वनस्पति नामकर्म के उदय से जीव वनस्पतिकायिक होते हैं, इनके प्रत्येक और सामान्य ऐसे दो भेद हैं। एक जीव का एक ही शरीर हो अर्थात् जिस पूरे एक शरीर का स्वामी एक ही जीव हो, वह प्रत्येक वनस्पतिकायिक है और जिस एक ही शरीर में अनेक जीव समानरूप से रहें, उस शरीर को सामान्य या साधारण शरीर कहते हैं, इस शरीर के धारी जीव सामान्य या साधारण कहलाते हैं।

प्रत्येक वनस्पति के भी दो भेद हैं–प्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित। जिस एक ही जीव के उस शरीर में उसके आश्रित अनन्त निगोदिया जीव रहें, वह प्रतिष्ठित प्रत्येक है और जिसके आश्रित निगोदिया जीव नहीं हों, वह अप्रतिष्ठित प्रत्येकहै।

अब वनस्पति जीवों के अनेक भेद बताते हैं–

मूलग्गपोरबीजा, कन्दा तह खंदबीजबीजरूहा।
सम्मुच्छिमा य भणिया, पत्तेयाणंतकाया य।।86।।

जिन वनस्पतियों का बीज, मूल, अग्र, पर्व, कन्द, अथवा स्कंध है, अथवा जो बीज से उत्पन्न होती हैं, यद्वा जो सम्मूर्च्छन हैं, वे सभी वनस्पतियाँ सप्रतिष्ठित तथा अप्रतिष्ठित दोनों प्रकार की होती हैं अर्थात् वनस्पतियों की उत्पत्ति के अनेक प्रकार हैं, कोई तो मूल से उत्पन्न होती हैं, जैसे अदरक, हल्दी आदि, कोई अग्र से–जैसे गुलाब आदि, कोई पर्व से जैसे गन्ना आदि, कोई कन्द से–जैसे पिंडालू आदि, कोई स्कंध से जैसे पलास आदि, कोई अपने-अपने बीज से–जैसे गेहूँ, चना आदि और कोई सम्मूर्च्छन से उत्पन्न होते हैं जैसे घास आदि। यद्यपि सभी वनस्पतियाँ संमूर्च्छन ही हैं फिर भी यहाँ बीजमूल आदि की अपेक्षा के बिना जो अपने आप मिट्टी-पानी आदि के मिलने से उग जावें वे संमूर्च्छन उत्पत्ति से कही गई है।

अब सप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित वनस्पति की पहचान बताते हैं–

गूढ़ सिरसंधिपव्वं, समभंगमहीरूह च छिन्नरूहं।
साहारणं सरीरं, तव्विवरीयं च पत्तेयं।।87।।

जिनकी शिरा, बहिःस्नायु, सन्धि–रेखा बंध और पर्व–गाँठ अप्रगट हों और जिसका भंग करने पर समान भंग हो–दोनों भंगों में परस्पर अहीरूह अन्तर्गत सूत्र तन्तु न लगा रहे तथा छेदन करने पर जिसकी पुनः वृद्धि हो जाये, उनको सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कहते हैं और जो विपरीत हैं–इन चिन्हों से रहित हैं वे अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कही गई हैं।

भावार्थ–जिन वनस्पतियों में बाहर में शिरा लकीर प्रकट हो जाती है जैसे ककड़ी आदि, जिनमें बीच में संधि हो जैसे नारंगी आदि और गाँठ–जैसे गन्ना की प्रगट दीखने लगती हैं, ये अप्रतिष्ठित हो गई हैं! ये ही वनस्पतियाँ जब तक इनमें शिरा, सन्धि और पर्व प्रगट नहीं हुए थे, तब तक अनन्त जीवों से आश्रित होने से सप्रतिष्ठित थीं पुनः 'समभंगअहीरूह' इन पदों का अर्थ देखिए जिनको तोड़ने पर समान भंग हो जावे और मध्य में दोनों तरफ से किसी तरफ भी तन्तु

न लगा रहे वे वनस्पति सुप्रतिष्ठित हैं, इनमें मूली, गाजर, अरबी आदि कन्दमूल आ जाते हैं क्योंकि इनके तोड़ने पर समान टूटते हैं इनमें तन्तु नहीं लगा रहता है तथा 'छिन्नरूह' जिनके टुकड़े करने पर भी उग जाते हैं जैसे–आलू, अरबी आदि इनके टुकड़े करने पर बोने से उग जाते हैं इसलिए समभंग, अहीरूह और छिन्नरुह इन तीन लक्षणों के अनुसार ये आलू, मूली, अदरक, अरबी, गाजर आदि कन्दमूल अनन्तकायिक हैं। महान् ग्रंथ 'षट्खंडागम' धवला टीका में भी कहा है-बादरनिगोदप्रतिष्ठिताश्चार्यान्तरेषु श्रूयंते क्व तेषामन्तर्भावश्चेत् प्रत्येकशरीर-वनस्पतिष्विति ब्रूमः। के ते स्नुगार्द्रकमूलकादयः।'' बादर निगोद जीवों से प्रतिष्ठित वनस्पतियाँ दूसरे आगमों में सुनी जाती हैं। उनका अन्तर्भाव वनस्पति के किस भेद में होगा? प्रत्येक शरीर वनस्पति में उनका अन्तर्भाव होगा। जो बादर निगोद से प्रतिष्ठित हैं वे कौन-कौन हैं? थूहर, अदरख, मूली आदि वनस्पतियाँ बादर निगोद से प्रतिष्ठित हैं।

जो सप्रतिष्ठित प्रत्येक को 'साहारणसरीर' साधारण शरीर ऐसा कह दिया है, उसका अर्थ यही है कि ये साधारण निगोदिया जीवों से सहित हैं इसलिए साधारण के समान अनन्त जीवों का पिंड होने से इन्हें भी उपचार से साधारण कह दिया है।

आगे और भी कहते है–

मूले कन्दे छल्ली, पवालासालदलकुसुमफलबीजे।
समभंगे सदि णंता, असमे सदि होंति पत्तेया।।88।।

जिन वनस्पतियों के मूल, कंद, छाल, नवीन कोंपल अथवा अंकुर, क्षुद्रशाखा, पत्ते, फूल, फल तथा बीजों को तोड़ने से समान भंग हो जाये–तन्तु न लगा रहे, उसको सप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं और जिनका भंग समान न हो, वे अप्रतिष्ठित प्रत्येक हैं।

कंदस्स व मूलस्स व, सालाखंदस्स वावि बहुलतरी।
छल्ली साणंतजिया, पत्तेजिया तु तणुकदरी।।89।।

जिस वनस्पति की कंद-मूल, क्षुद्रशाला या स्कंध के छाल मोटी हो उसको अनन्तजीव सप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं और जिसकी छाल पतली हो उसको अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं।

बीजे जोर्णाभूदे जीवो चंकमदि सो व अण्णो वा।
जे विय मूलादीया ते पत्तेया पढ़मदाये।।90।।

जिस योनिभूत बीज में वही जीव या अन्य कोई जीव आकर उत्पन्न हो वह और मूली आदि वनस्पतियाँ प्रथम अवस्था में अप्रतिष्ठित प्रत्येक ही रहती हैं।

भावार्थ—यहाँ दो बातें खास समझने की हैं, एक तो जब वे मूल आदि बीज पर्यन्त सभी वनस्पतियाँ बीजरूप में होती हैं, उनके पुद्गल स्कंध इस योग्य होतेहैं कि उनमें ये जी के निकल जाने पर भी बाह्य कारणों के मिलते ही पुनः उनमें जीव आकर उत्पन्न हो सकता है। अर्थात् जब तक उनमें अंकुर उत्पन्न करने की शक्ति नष्ट नहीं हुई है, तब तक उनमें या तो वही जीव आकर उत्पन्न हो जाता हे, जो कि पहले उनमें था, या कोई दूसरा जीव भी कहीं अन्यत्र से मरण करके उनमें आकर उत्पन्न हो जाता है, दूसरी बात यह है कि वे मूलकन्द, पत्र आदि सभी वनस्पतियाँ जिनको पहले सप्रतिष्ठित प्रत्येक कहा है, वे अपनी उत्पत्ति के प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त की अवस्था में हमारे और आपके ज्ञान का विषय नहीं है।

अब साधारण वनस्पति का वर्णन करते हैं—

साहारणोदयेण णिगोदसरीरा हवंति सामण्णा।
ते पुण दुविहा जीवा बादर सुहुमात्ति विण्णेया।।191।।
साहारणमाहारो साहारणमाणपाणगहणं च।
साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं भणियं।।192।।
जत्थेक्क मरइ जीवो, तत्थ दु मरणं हवे अणंताणं।
वक्कमइ जत्थ एक्को, वक्कमणं तत्थ णंताणं।।193।।

अर्थ—जिन जीवों का शरीर साधारण नाम कर्म के उदय से निगोदरूप होता है, उन्हीं को सामान्य सा साधारण कहते हैं। इनके दो भेद हैं बादर और सूक्ष्म। अर्थात् इस शरीर में एक जीव मुख्य नहीं रहता अनन्तानन्त जीव रहते हैं और वे भी सब समानरूप से रहते हैं।

इन साधारण जीवों का साधारण अर्थात् समान ही तो आहार होता है और साधारण एक साथ ही श्वासोच्छ्वास का ग्रहण होता है। इस तरह से साधारण जीवों का लक्षण परमागम में साधारण ही बताया है।

साधारण जीवें में जहाँ पर एक जीव मरण करता है। वहाँ पर अनन्त जीवों का मरण होता है और जहाँ पर एक जीव उत्पन्न होता है, वहाँ पर अनन्त जीवों का उत्पाद होता है।

एक-एक निगोद शरीर में द्रव्य की अपेक्षा से जीवों का प्रमाण कितना है? सो बताते हैं—

एगणिगोदसरीरे, जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा।
सिद्धेहिं अणंतगुणा, सव्वेण विदीदकालेण।।196।।

एक निगोद शरीर में द्रव्य की अपेक्षा सिद्ध राशि से अनन्तगुणे और सम्पूर्ण अतीतकाल के समयों से भी अनन्तगुणें इतने प्रमाण जीव पाये जाते हैं। अर्थात् सिद्धजीव अनन्तानन्त हैं और भूतकाल के समय भी अनन्तानन्त हैं, इनमें भी अनन्त का गुणा करने पर जो संख्या आती है, इतने अनन्तानन्त प्रमाण जीव एक निगोद जीव के शरीर में रहते हैं। ऐसा सर्वज्ञदेव ने अपने केवलज्ञान से अवलोकन किया है। नदी, तालाब आदि के जल में जो कोई (शेवाल) होती हे, ये सब साधारण वनस्पति जीवराशि है।

तात्पर्य यह निकला कि आलू आदि में भी इसी प्रकार से अनन्तानन्त जीव राशि हैं इसीलिए समन्तभद्र स्वामी ने इनके बारे में कहा है कि 'अल्पफलबहुविघ्नतान्' खाने में स्वाद तो किंचित् मात्र है और बहुत-अनन्तानन्त जीवें का घात होता है, ऐसा समझना।

सुषमा—आलू के टुकड़े सूखे हुए हों, तो खाने में क्या दोष है?

माताजी—पहली बात तो अभक्ष्य को सुखाकर खाने का एक प्रकार का विशेष रागभाव होने से दोष तो बहुत बड़ा है, दूसरी बात यह है कि वे आलू, अरवी आदि के टुकड़े भी बोने से उग जाते हैं, इसीलिए इन कन्दमूलों को सुखाकर खाना भी निषिद्ध है।

इसके अतिरिक्त मर्यादा के बाहर की बड़ी, पापड़ आदि जिन पर वर्षा ऋतु में फफूँदी लग जाती है, ऐसी चीजें खाना भी दोषास्पद है। इनमें तमाम संमूर्च्छन जीव उत्पन्न हो जाते हैं। चौबीस घंटे के बाद का आचार मुरब्बा आदि भी अभक्ष्य है और भी बहुत सी चीजें अभक्ष्य हैं। उन पर फिर कभी प्रकाश डालूँगी।

स्वास्थ्य मंत्र

ॐ ह्रीं अर्हं णमो सव्वोसहिपत्ताणं
आरोग्य लाभं कुरु कुरु स्वाहा।

तप का प्रभाव

सुमन—सुधा जीजी! भादों का महीना आ गया है, पुराने विचार वाली महिलाओं ने व्रत-उपवास आदि कर करके अपना शरीर सुखाना शुरू कर दिया है। मैं तो उनकी खूब ही खिल्ली उड़ाती रहती हूँ। भला, व्रत-उपवास से कहीं मोक्ष मिलता है? फिर बाह्य तप तो सर्वथा निरर्थक ही है!

सुधा—सुमन! ऐसा नहीं कहना, तीर्थंकर आदि महापुरुषों ने भी पूर्वभवों में बाह्य तप का खूब ही अनुष्ठान किया था। हरिवंशपुराण में देखो, भगवान नेमिनाथ ने पूर्वभव में कितने प्रकार के तपों का अनुष्ठान किया है तथा केवल बाह्य तप भी निरर्थक नहीं है, किन्तु महाफलदायी है। सुनो, तुम्हें मैं एक रोचक कथा सुनाती हूँ।

विदेह क्षेत्र में पुण्डरीक नाम का एक देश है। उसके चक्रधर नामक नगर में त्रिभुवनानन्द नाम का चक्रवर्ती छह खण्ड पृथ्वी पर एक छत्र अनुशासन करता हुआ स्थित था। उसकी अनंगशरा नाम की एक कन्या थी, जो कि सर्व गुणों से मण्डित और सौन्दर्य की एक अपूर्व सृष्टि थी। चक्रवर्ती का एक पुनर्वसु नाम का सामन्त था, जो कि प्रतिष्ठपुर नगर का स्वामी था। उस कन्या के सौन्दर्य पर आसक्त हो उसने किसी समय उसका अपहरण कर लिया और विमान पर बिठाकर आकाश मार्ग से भागा। क्रोध से भरे चक्रवर्ती की आज्ञा पाकर सेवकों ने उसका पीछा किया और युद्ध कर उसके विमान को चूर कर डाला। तब पुनर्वसु ने पर्णलघ्वी विद्या के सहारे उस कन्या को विमान से नीचे छोड़ दिया। वह कन्या उस विद्या के सहारे धीरे से श्वासपद नामक महाअटवी में आ गिरी।

वह महावन ऐसा था, जो बड़े-बड़े विद्याधरों को भी भय उत्पन्न करने वाला था। जिसके अन्दर, प्रवेश करना अत्यन्त कठिन था, जहाँ पर बड़े-बड़े वृक्षों की सघन झाड़ियों से अंधकार ही अंधकार बना रहता था अतः सूर्य की किरणें जहाँ पर अवकाश नहीं पा सकती थीं। उस सघन वन में भेड़िये, शरभ, चीते, तेंदुये और सिंह आदि क्रूर जन्तु ही अपना निवास स्थान बनाये हुए थे। वहाँ की भूमि कठोर थी और कहीं अतीव ऊँची थी, तो कहीं अतीव नीची थी। जिधर देखो उधर ही बड़े-बड़े बिल दिखाई देते थे, जिनमें से निकल-निकलकर बड़े-बड़े सर्प फण उठाये घूम रहे थे। उस वन में अनंगशरा बालिका चारों तरफ दृष्टि डालते हुए महाभय से आक्रांत हो मूच्छित हो गई, जब होश आया, भय से काँपती हुई जोर-

जोर से दहाड़ मार-मारकर रोने लगी। वह कन्या विलाप कर रही है—

हाय! मैं लोक की रक्षा करने वाले, इन्द्र के समान सुशोभित त्रिभुवनानन्द नाम के चक्रवर्ती पिता से उत्पन्न हुई हूँ और महास्नेह से लालित हुई हूँ, फिर भी आज भाग्य की प्रतिकूलता से इस महाकष्ट की अवस्था को प्राप्त हो रही हूँ। हाय पिता! तुम तो महापराक्रमी हो, षट्खण्डस्वरूप इस लोक की पूर्णतया रक्षा करते हो, फिर वन में असहाय पड़ी हुई, मुझ पर दया क्यों नहीं करते? हाय माता! गर्भ में धारण कर वैसा दुःख सहकर इस समय तुम मुझ पर दया क्यों नहीं करती हो? हाय मेरे भाई-बंधु आदि परिजन! तुमने मुझे एक क्षण के लिए भी अकेली नहीं छोड़ा था पुनः आज मेरी सुध क्यों नहीं ले रहे हो? हाय, हाय मैं दुखिया इस समय क्या करूँ, कहाँ जाऊँ? किसका आश्रय लूँ? किसे देखूँ? और इस महावन में मैं पापिनी कैसे रहूँ? क्या यह स्वप्न है? अथवा नरक में मेरा जन्म हो गया है? क्या मैं वही हूँ? अथवा यह कौन सी दशा प्रगट हुई है?

इस प्रकार चिरकाल तक विलाप कर वह अत्यन्त विह्वल हो गई। उसका वह विलाप क्रूर पशुओं के भी मन को द्रवित करने वाला था। जब वह भूख की बाधा से व्याकुल होती थी, तब वन के फल-पत्तों को खाकर नदी अथवा झरने का पानी पीकर कुछ शान्त हो जाती थी पुनः कुटुम्बीजनों की याद कर-करके रोने लगती थी और कभी-कभी महामंत्र का स्मरण करते हुए धैर्य धारण करती थी। उसका सारा शरीर शोकरूपी अग्नि से झुलस गया था। कभी रो-रोकर पागल जैसी हो जाती थी, कभी मूर्च्छित होकर जमीन पर गिर जाती थी। कभी उठकर इधर-उधर चलने लगती थी और जंगल से निकलने का मार्ग ढूँढने लगती थी। उस भयावह जंगल में मार्ग न प्राप्तकर पुन; निराश हो धरती माता की गोद में सो जाती थी। शीतकाल की वर्षा से, कुहरे से, बरसात से उसका शरीर नष्टप्राय हो गया था, किन्तु फिर भी उसका मरण नहीं हो रहा था, न ही कोई जंगली प्राणी ही उसका भक्षण करते थे। ग्रीष्म ऋतु की भयंकर गर्मी से वह झुलसने लगती थी और सोचती थी कि क्या ये ही नरक स्थान है? वर्षा ऋतु की मूसलाधार बारिश को भी वह अपने खुले शरीर पर ही झेलती थी। उसके पहने वस्त्र गलकर समाप्त हो चुके थे अतः वन के पत्तों से ही वह अपने शरीर को ढकने का प्रयत्न करती रहती थी। कैथा आदि के वृक्षों के नीचे बैठकर वह पिता का स्मरण कर-करके रोया करती थी। हाय, मैं चक्रवर्ती से उत्पन्न होकर भी इस निर्जन वन में ऐसी दुरवस्था को प्राप्त हो रही हूँ। सो निश्चित ही मैंने जन्मांतर

में घोर पाप संचित किया होगा, उसी का यह फल आज मुझे भोगने को मिल रहा है। इस प्रकार अविरल अश्रुवर्षा से जिसका मुख दुर्दिन के समान हो गया था, ऐसी वह अनंगशरा नीची दृष्टि से पृथ्वी की ओर देखकर स्वयं पककर गिरे हुए ऐसे फलों को उठाकर खाकर शांत हो जाती थी। कभी वह बेला करती थी, कभी तेला करती थी और कभी अनेकों उपवास कर लेती थी पुनः उपवास से अत्यन्त कृश हो जाने के बाद कभी वह केवल पानी से पारणा करती थी, सो भी एक ही बार और कभी कुछ फल खाकर सन्तुष्ट होती थी।

जो अनंगसेना पहले अपने केशों से च्युत हो शय्या पर पड़े हुए फूलों से भी खेद को प्राप्त होती थी, वह इस वन में मात्र ऊबड़-खाबड़ कंकरीली पृथ्वी पर ही अनेकों रात्रियाँ निकाल चुकी है। जो पहले पिता के संगीत को सुनकर जागती थी, वह यहाँ पर सियार आदि के भयंकर शब्दों को सुनकर जागती है। इस प्रकार से सर्दी, गर्मी और बरसात के दुःखों को अपने शरीर पर झेलती हुई तथा अनेकों उपवास कर-करके प्रासुक आहार से पारणा करती हुई, उस कन्या ने तीन हजार वर्ष तक महान् उग्र घोरातिघोर बाह्य तप किया। इतने दिनों तक उस वन में उसे मनुष्य का दर्शन क्या, शब्द भी सुनने को नहीं मिला। शरीर भी उसका तपश्चरण से और कष्ट के झेलने से अब शुष्क हो चुका था। तब जीवन से निराश हो उस धीर-वीर बाला ने चारों प्रकार के आहार का त्याग कर सल्लेखना धारण कर ली। उसने जिनशासन में पहले जैसा सुन रखा था, वैसा नियम ग्रहण कर लिया कि मैं अब सौ हाथ से बाहर की भूमि में नहीं जाऊँगी।

उसे सल्लेखना का नियम लेकर जब छह दिन व्यतीत हो गये, तब लब्धिदास नामक एक पुरुष जो कि मेरुपर्वत की वंदना कर लौट रहा था, सो उसने उस कन्या को देखा। वह उसे उसके पिता के पास ले जाने के लिए तैयार हुआ, तब कन्या ने यह कहकर मना कर दिया कि मैंने अब यम सल्लेखना ग्रहण कर ली है। उस लब्धिदास ने शीघ्र ही चक्रवर्ती त्रिभुवनानन्द के पास पहुँचकर कन्या का समाचार सुना दिया। कन्या के अपहरण के बाद चक्रवर्ती ने सर्वत्र तमाम लोगों को भेज-भेजकर उसका पता लगवाया था, किन्तु कोई भी उसे ढूँढ नहीं सके थे। इसी कन्या के शोक में चक्रवर्ती भी अपनी विशाल सम्पत्ति को तुच्छ समझते थे। उसकी माता भी रो-रोकर अपने शरीर को दुर्बल कर चुकी थी। उस समय चक्रवर्ती तमाम परिजन को लेकर अतिशीघ्र ही वहाँ पहुँचे। वह वहाँ देखते हैं कि अत्यन्त भयंकर एक मोटा अजगर उस बाला को खा रहा था। यह

देख उस कन्या को छुड़ाने में तत्पर हो चक्रवर्ती ने उस अजगर को अलग करना चाहा कि कन्या ने तत्क्षण ही रोक दिया। उस स्थूल अजगर के द्वारा खाई गई वह कन्या महामंत्र का स्मरण करते हुए धैर्यपूर्वक शरीर छोड़कर ईशान स्वर्ग में देवी हो गई।

इस घटना से चक्रवर्ती त्रिभुवनानन्द को महान् वैराग्य उत्पन्न हो गया। उस समय उन्होंने अपने बाईस हजार पुत्रों के साथ दीक्षा ग्रहण कर ली।

अनंगशरा कन्या स्वर्ग के सुखों का अनुभव करके राजा द्रोणमेघ की रानी के गर्भ में आ गई। उस समय रानी अनेकों रोगों से पीड़ित थी, कन्या के गर्भ में आते ही माता पूर्णतया नीरोग हो गई।

किसी समय विंध्य नाम का व्यापारी ऊँट, गधे तथा भैंसे आदि जानवरों पर सामान लादकर अयोध्या में आया और वहाँ ग्यारह माह तक रहा। उनमें से एक भैंसा तीव्र रोग से पीड़ित हो नगर के बीच में गिर पड़ा। कितने ही दिनों तक पड़ा रहा। लोग उसे ठुकराकर चलते थे कभी कोई उसके मस्तक पर पैर रखकर चले जाते थे। वेदना से और भूख-प्यास से पीड़ित होकर भी शान्तभाव धारण करते हुए उसने प्राण छोड़ा तब अकाम निर्जरा के प्रभाव से वह वायवावर्त नाम का धारक वायुकुमार जाति के देवों का स्वामी हो गया। अवधिज्ञान के निमित्त से उसने पूर्वभव के पराभव को जान लिया, तब उसने अयोध्या में आकर महारोग उत्पन्न करने वाली बहुत ही भयंकर विषम वायु चला दी, जिससे अयोध्या में भयंकर रोगों का प्रकोप फैल गया। महादाहज्वर, सर्वशूलरोग, अरुचि, वमन, फोड़े, सूजन आदि अनेकों रोगों से शहर में त्राहि-त्राहि मच गई। जब भरत महाराज ने सुना कि हमारे शहर में क्या, सारे देश में कोई भी निरोग नहीं बचा है मात्र एक द्रोणमेघ नाम का राजा है, जो कि अपने मंत्री परिवार आदि के साथ पूर्ण स्वस्थ रह रहे हैं। भरत महाराज ने उन्हें बुलाकर कहा कि हे महानुभाव! आप जैसे स्वस्थ हैं वैसे ही हम लोगों को स्वस्थ करना उचित है। तब राजा द्रोणमेघ ने अपने अन्तःपुर से सुगंधित जल मँगवाकर उन सभी पर सिंचित किया, जिससे सभी का रोग शान्त हो गया। तब भरत राजा के कहने से द्रोणमेघ ने सारे अयोध्या निवासियों को निरोग कर दिया।

उस प्रसंग में भरत महाराज ने प्रश्न किया कि यह महिमाशाली सुगंधित जल आपने कैसे प्राप्त किया है? द्रोणमेघ ने कहा–हे देव! मेरी कन्या विशल्या है यह उसी पुण्यशालिनी के स्नान का जल है जो कि सर्व रोगों का नाशक सिद्ध

हो चुका है और इस जल के द्वारा अब तक अगणित जीवों ने जीवन लाभ प्राप्त किया है।

किसी समय देवगीतपुर के विद्याधर चन्द्रप्रतिम आकाशमार्ग में विचरण कर रहे थे। उसी समय उनका शत्रु सहस्रविजय कुछ पुराने बैर को याद कर क्रोध को प्राप्त हो उसके साथ युद्ध करने लगा। उस युद्ध में चंडरवा नाम की शक्ति (देवोपनीत अस्त्र) से उसे मारा, जिससे वह मरणासन्न होकर रात्रि के समय आकाश से गिरा, जहाँ पर वह गिरा, वह अयोध्या का महेन्द्रोदय नामक उद्यान था। आकाश से पड़ते हुए ताराबिम्ब के समान उसे देखकर राजा भरत तर्क करते हुए उसके पास पहुँचे और शक्ति से शल्ययुक्त वक्षस्थल को देखकर दया से आर्द्र हो उठे। उन्होंने तत्क्षण ही जीवनदान देने वाले जल को मँगाकर उस चन्द्रप्रतिम विद्याधर को स्वस्थ कर दिया।

जब राम-रावण के युद्ध में रावण ने लक्ष्मण को अमोघविजया नामक शक्ति से घायल कर दिया था और उनके जीवन में संशय उपस्थित हो गया था, उस समय वह चन्द्रप्रतिम विद्याधर वहाँ पहुँचकर उस विशल्या के स्नान जल के महत्त्व को बतलाकर रामचन्द्र को आश्वस्त करता है। तब रामचन्द्र शीघ्र ही रात्रि में ही भामंडल, हनुमान आदि को अयोध्या नगरी में भरत के पास उसी सुगंधित जल हेतु भेज देते हैं। भरत राजा सर्व समाचार विदित कर अपने अग्रज के जीवन हेतु उपाय में सन्नद्ध द्रोणमेघ की विशल्या कन्या को ही भामंडल आदि के साथ वहाँ भेज देते हैं। विशल्या के निकट पहुँचते ही लक्ष्मण के वक्षस्थल से शक्ति नामक अस्त्र निकल जाता है और वे स्वस्थ हो जाते हैं। सुमन! यह है बाह्य तप का अद्भुत चमत्कार।

सुमन—सुधा जीजी! मुझे तो सुनते ही रोमांच हो गया। ओह! उस अनंगशरा कन्या को तीन हजार वर्ष तक किसी मनुष्य का मुख देखने को नहीं मिला। उसने तीन हजार वर्ष तक गर्मी, सर्दी और वर्षा के भयंकर आघातों को अपने खुले बदन पर कैसे झेला? उसने धैर्यपूर्वक बेला, तेला आदि उपवास कैसे किये? केवलमात्र एक बार जल पीकर पारणा का दिवस कैसे निकाला? ओह! तीन हजार वर्ष तक ऐसी घोर तपश्चर्या कौन कर सकता है?

सुधा—जिस समय वह अमोघ शक्ति नाम की विद्या, लक्ष्मण के वक्षस्थल से निकलकर आकाश मार्ग से जाने लगी, हनुमान ने उसे पकड़ लिया, तब वह देवी के रूप में प्रकट हो बोली, हे हनुमान! मैं तीनों लोकों में प्रसिद्ध अमोघविजया

नाम की विद्या हूँ। इस समय इस संसार में इस विशल्या के सिवाय मैं किसी से पराजित नहीं की जा सकती थी। पूर्वभव में इसने अपना शिरीष के फूल के समान सुकुमार शरीर ऐसे तप में तपाया था, जो कि प्रायः मुनियों के लिए भी कठिन था। सचमुच में इसीलिए यह मानव जीवन सारभूत है कि जहाँ पर ऐसे कठिन तप किये जा सकते हैं।

सुमन—बहन, सच में उस कन्या का धैर्य भी अपूर्व ही था, देखो ना, उसने विधिवत् सल्लेखना ग्रहण की। उसने अपघात से, संक्लेश से प्राण नहीं छोड़े थे, नहीं तो मरकर दुर्गति में चली जाती, और देखो, उसने पिता के आ जाने के बाद भी पुनः जीने की आशा नहीं की, लिए हुए नियम को भंग करना उचित नहीं समझा और अपने पिता से उस अजगर को भी अभयदान दिलाया। अहो! इस विशल्या का पूर्वभव तो सचमुच में अतीव ही रोमांचकारी है। अब मैं तप की निन्दा कभी भी नहीं करूँगी।

सुधा—हाँ बहन, शक्य तो अपने को कुछ न कुछ व्रत लेकर तप का अभ्यास करते ही रहना चाहिए और नहीं हो सकता है तो कम से कम करने वालों की सहायता करते रहना चाहिए। उनकी निंदा या हँसी कभी भी नहीं करनी चाहिए।

महामंत्र की महिमा

उठते, बैठते, चलते, फिरते समय, घर से निकलते समय, मार्ग में चलते समय, घर में कुछ काम करते समय पद-पद पर जो णमोकार मंत्र को जपते रहते हैं उनके कौन से मनोरथ सफल नहीं हो जाते हैं? अर्थात् संपूर्ण वांछित सिद्ध हो जाते हैं।

छींक आने पर, जंभाई लेने पर, खांसी आदि आने पर या अकस्मात् कहीं वेदना के उठ जाने पर या चिंता हो जाने पर, सोते समय और सोकर उठते ही और आश्चर्य आदि प्रसंगों में श्री जिनेन्द्रदेव का स्मरण करना चाहिए।

आई हुई निधि चली गई

मगध देश के अन्तर्गत ''लक्ष्मीनगर'' नाम का एक सुन्दर गाँव था। वहाँ पर सोमशर्मा ब्राह्मण रहता था, उसकी भार्या का नाम लक्ष्मीमती था। लक्ष्मीमती युवती होते हुए अनन्य सौंदर्य से युक्त भी थी। सुन्दरता के साथ-साथ पतिव्रत धर्म भी उसका विशेष गुण था और भी अनेक गुणों के होते हुए भी उसमें ''जातिमद'' नाम का एक बहुत बड़ा दोष था। वह उस अहंकार में अपने आगे किसी को कुछ भी नहीं गिनती थी।

एक समय एक पक्ष (पंद्रह दिन) का उपवास करके आहार के लिए श्री समाधिगुप्त महामुनि गाँव में प्रवेश करते हैं। सोमशर्मा उन्हें पड़गाहन कर उच्चआसन पर विराजमान करता है पुनः कुछ विशेष कार्यवश बाहर चला जाता है और पत्नीसे आहार देने के लिए कह जाता है। उस समय लक्ष्मीमती बैठी हुई काँच में अपना मुख देख रही है। वह पति के वचन सुनकर भी अनसुना कर देती है और अपने रूपसौंदर्य के अभिमान में उन्मत्त होती हुई उन मुनि को गालियाँ देने लगती हैं..।

अरे नग्न! तुझे लज्जा भी नहीं आती? ऐसा अर्धजर्जरित घिनावना शरीर धारण कर रहा है! देख, कभी स्नान न करने से तेरे शरीर पर कितना मैल जम रहा है, तुझे देखकर सभ्य लोगों को ग्लानि आये बगैर नहीं रहती। भाग जा यहाँ से, तू महा अपवित्र है।

इत्यादि वचनों को सुनकर मुनिराज मन में अंतराय मानकर वहाँ से चले गये, तब उस मूर्खा ने हँसते हुए अपने घर के दरवाजे बंद कर लिए।

अहो! उसे क्या पता कि हमारे घर में आज निधि आई हुई थी, सो आई हुई निधि वापस चली गई। निधि गई सो तो गई ही किन्तु उसकी निंदा से जो महापाप संचित हो गया, उसका फल उसे उसी जन्म में ही भोगना पड़ा, उतने से ही पाप नहीं छूटा, किन्तु कई जन्म तक उसे दुर्गतियों के दुःख उठाने पड़े।

यद्यपि वे मुनिराज परमशांत स्वभावी थे, सबका हित करने वाले थे, अनेक गुण से युक्त थे और उज्ज्वल चारित्र के धारक थे। उनके मन में उस ब्राह्मणी के दुष्ट व्यवहार से किंचित् मात्र भी क्षोभ या क्लेश नहीं हुआ, न उन्होंने उसका अहित ही सोचा किन्तु पाप का फल तो कड़ुवा ही होता है। उस लक्ष्मीमती के सारे शरीर में सात दिन के भीतर महाकुष्ट रोग फूट निकला और ऐसी दुर्गन्धि आने लगी जिसके सहन करने में असमर्थ हुए घर वालों ने उसे घर से निकाल

दिया। यह कष्ट वह सहन न कर सकी। वेदना नामक आर्तध्यान से पीड़ित होती हुई वह स्वयं अग्नि में जलकर मर गई।

इस पाप से मरकर वह उसी गाँव में एक धोबी के यहाँ गधी हो गई। इस दशा में भी वहाँ उसे माँ का दूध नहीं मिला। वहाँ से मरकर सूकरी हो गई पुनः दो बार उसने कुत्ती के जन्म को धारण किया। वहाँ पर भी वह कुत्ती वन की दावानल अग्नि में जल गई। उस पर्याय से निकलकर भृगुकच्छ गाँव में एक मल्लाह के यहाँ कन्या हो गई। माता-पिता ने उसको भाग्यहीन देखकर उसका काणा नाम रख दिया। जन्म से ही इसके शरीर से महा दुर्गन्ध निकल रही थी जिससे कि इसके निकट कोई भी बैठने में समर्थ नहीं हो पाते थे।

ओह! कहाँ तो वह लक्ष्मीमती देवी? और कहाँ वह निंद्य कन्या? अभिमान का फल कितना बुरा होता है और साथ ही मुनिनिन्दा से बढ़कर तो संसार में अन्य कोई महापाप है ही नहीं। इस घटना को सुनकर बुद्धिमानों को कभी भी जाति, रूप और धन, ऐश्वर्य आदि का घमंड नहीं करना चाहिए और न ही मुनियों के प्रति दुर्वचन निकालने चाहिए।

एक दिन यह काणा कन्या लोगों को नदी पार करा रही थी। वह देखती है कि नदी के किनारे एक दिगम्बर मुनि तपस्या में लीन हैं। पास में पहुँचती है और नमस्कार करके पूछती है–

''भगवन्! मैंने आपको कहीं और भी देखा है, ऐसा मुझे स्मरण हो रहा है।''

मुनिराज बोलते हैं–

बेटी! तूने मुझे पाँच भव पूर्व लक्ष्मीमती ब्राह्मणी की पर्याय में देखा है।

वह पूछती है–

''गुरुदेव! क्या मैं पाँच भव पूर्व लक्ष्मीमती नाम की ब्राह्मणी थी पुनः मैं इस नीच कुल में कैसे आ गई?''

''पुत्रि! तूने घर में आये हुए मुझ साधु को गालियाँ देकर निकाल दिया। जाति के अभिमान में आकर तूने मुनिनिंदा की जिसके पाप से कुष्ट रोग से पीड़ित हो मरकर गधी हो गई, सुअर हुई, दो बार कुत्ती हुई पुनः कुछ कर्म के मंद होने से यह मानव योनि तुझे मिल गई, किन्तु पाप का फल तुझे अभी कुछ और भोगना शेष रहा है जिससे तू नीच कुलीन के यहाँ कन्या हो गई है।''

इतना सुनते ही उस काणा को अपने पूर्वभवों का जातिस्मरण हो आया। जिससे वह रोने लगी और करुण क्रंदन करते हुए बोली–

"हे भगवन्! मैं महापापिनी हूँ, मैंने आप जैसे महामुनियों की निंदा करके जो पाप उपार्जित किये हैं, उसके फल को अब नहीं भोगना चाहती हूँ। हे कृपा सिंधु! कुछ ऐसा उपाय बतलाइये कि जिससे उस पाप से मेरा छुटकारा हो जावे। हे नाथ! अब मेरी रक्षा करो, मुझे दुर्गतियों में जाने से बचाओ।"

मुनिराज उसकी दीनवाणी को सुनकर करुणा से प्लावित हो उठे, यद्यपि वे बिना कारण ही परोपकार में निरत हुए रहते थे किन्तु उस समय उसकी करुणामयी पुकार से उसमें विशेषरूप से अनुकंपा जागृत हो गई। वे बोले....

"हे पुत्रि! धैर्य धारण कर, अब तूने गुरु का आश्रय लिया है, तो अब तू नियम से दुर्गतियों के दुःखों से छूट जावेगी।"

गुरु के अमृततुल्य वचन से उसके मन में शांति हुई, तब गुरु ने उसे अणुव्रत का उपदेश दिया। उसने भी धर्मोपदेश सुनकर यथाशक्ति श्रावक के व्रत ग्रहण किये। अपने योग्य तपश्चर्या को करते हुए कालांतर में उसने शुभभावों से शरीर का त्याग किया और स्वर्ग में उत्तम ऋद्धि की धारक देवी हो गई। वहाँ के दिव्य सुखों को भोगकर वही काणा का जीव कुण्डनगर के राजा भीष्म की महारानी यशस्वती के रूपिणी नाम की बहुत सुन्दर कन्या हो गई। इस कन्या के युवती होने पर इसका विवाह वासुदेव के साथ सम्पन्न हुआ और वासुदेव की आठ महादेवियों में यह भी एक महादेवी हुई है। अनन्तर श्री नेमिनाथ भगवान के समवसरण में प्रभु की दिव्य देशना सुनकर विरक्त होकर स्त्रीपर्याय का छेदकर सम्यग्दर्शन के प्रभाव से महर्द्धिक देवपद को प्राप्त किया है।

वास्तव में सम्यग्दर्शन का एक ऐसा ही माहात्म्य है कि जिसके प्राप्त हो जाने के बाद यह जीव स्त्री पर्याय में नपुंसक वेद में, एकेन्द्रियआदि तिर्यंचयोनि में, नारक योनि में, भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषियों में तथा हीन, दरिद्रों और नीच कुलीन मनुष्यों में भी जन्म धारण नहीं करता है। उत्तम-उत्तम देवों के सुखों का अनुभव कर पुनः अनुक्रम से उच्च कुलीन मनुष्य पर्याय में आकर राजा-महाराजा-चक्रवर्ती आदि के अभ्युदय को भोगकर पुनः जैनेश्वरी दीक्षा के द्वारा कर्मों को काटकर मोक्ष सुख को प्राप्त कर लेता है अतः प्रत्येक प्राणी का यह कर्तव्य है कि जाति मद आदि को छोड़कर मुनि-आर्यिका आदि की निंदा से दूर रहते हुए भी अपने में सम्यग्दर्शन को प्रगट करे पुनः ज्ञान की आराधना करते हुए एक देश अणुव्रतों का पालन करे और शक्ति हो तो महाव्रती मुनि या आर्यिका बनकर अपने संसार की परम्परा को घटाने का प्रयत्न करें, यही मानव जीवन का सार है।

जिनधर्म की देशना का पात्र कौन?

(सुधा जिनेन्द्रदेव का दर्शन करते हुए दर्शन पाठ पढ़ रही है। उसके मध्य में एक श्लोक आता है जिसे वह बहुत ही भावपूर्ण शब्दों में पढ़ती है। कुछ क्षण के लिए चिंतन मुद्रा में खड़ी हो जाती है।)

वह श्लोक इस प्रकार है–

जिनधर्म विनिर्मुक्तो मा भवञ्चक्रवर्त्यपि।
स्याच्चेटोऽपि दरिद्रोऽपि जिनधर्मानुवासितः।।

जब वह जिनबिम्ब का दर्शन कर वंदना करके स्वाध्यायशाला में आकर बैठ जाती है। दोनों में बातचीत प्रारंभ हो जाती है।

सुमन–बहन सुधा! **जिनधर्मविनिर्मुक्तो.....**इस श्लोक का अर्थ तो बताओ?

सुधा–हे देव! मैं जिनधर्म को छोड़कर चक्रवर्ती भी नहीं होना चाहता हूँ किन्तु जिनधर्म को धारण करते हुए मैं भले ही नौकर हो जाऊँ अथवा दरिद्री ही क्यों न हो जाऊँ!

सुमन–इसको पढ़ने के बाद आप क्या सोच रही थीं?

सुधा–बहन! क्या बताऊँ! आजकल धर्म को निभाना बहुत ही कठिन है। इस समय मैं बहुत बड़े धर्मसंकट में पड़ी हुई हूँ, मेरा मस्तिष्क बहुत ही अशांत है, कुछ समझ में नहीं आता है कि क्या करूँ?

सुमन–कहो बहन! मन की चिंता मुझसे कहो, हो सकता है कुछ भार हल्का हो जाये!

सुधा–बहन! मेरे पतिदेव बहुत ही धर्मात्मा हैं, यह बात तो आप अच्छी तरह जानती हैं। वे तो कुछ ग्रंथों की गाथाओं को रटे हुए, उन पर खूब अच्छा विवेचन करते रहते हैं।

सुमन–हाँ, हाँ बहन! सो तो सभी को मालूम है फिर भी इसमें अशान्ति की क्या बात है?

सुधा–(इधर-उधर देखकर धीरे से) बहन! क्या कहूँ, कहते हुए भी शर्म आती है। आजकल उन्होंने अण्डे खाना शुरू कर दिया है और कहते हैं कि हमें पकाकर देओ किन्तु मैं तो अण्डे घर में भी नहीं आने देना चाहती हूँ। इसी बात पर अपना मधुर दाम्पत्य जीवन कलहपूर्ण अशान्त बनता जा रहा है। क्या करूँ? अपने पतिसेवा व्रत को कैसे निभाऊँ?

सुमन–बहन! ऐसा क्यों? वे तो बड़े सात्त्विक थे!

सुधा–आजकल डाक्टर ने कह दिया है कि तुम्हारे स्वास्थ्य के लिए वह बहुत ही हितकर है।

सुमन–ओह! स्वास्थ्य के लिए भी ली गई मधु (शहद) की एक बिन्दु तो कितना पाप का कारण है देखो ना, शास्त्र में लिखा है कि एक बिन्दु मात्र मधु के भक्षण से सात गाँव के जलाने का पाप लगता है। पुनः मांस, अरे! यह तो महापाप का कारण है। देखो बहन! कथा प्रसिद्ध है कि खदिरसार भिल्ल ने दिगम्बर मुनि के पास कौवे का माँस छोड़ दिया था। बीमारी में चिकित्सक ने कह दिया कि यदि तू कौवे का माँस खायेगा, तभी जीवित रहेगा अन्यथा तेरा मरण निश्चित है। परिवार के सभी लोगों के अति आग्रह के बाद भी उसने नहीं खाया, तब उसके साले को बुलाया गया। साला वन मार्ग से आ रहा था। वहाँ एक यक्षिणी रुदन कर रही थी। उसके पूछने पर उस यक्षिणी ने कहा कि वह भिल्ल कौवे का माँस न खाने से मरकर व्यंतर देवों में आकर मेरा पति होने वाला है और तू जाकर यदि उसे कौवे का माँस खिला देगा, तो वह मरकर नरक में चला जायेगा, इसलिए मैं रो रही हूँ। इतना सुनकर उसने जाकर पहले तो अपने बहनोई खदिरसार भिल्ल को कौवे का माँस खाने के लिए समझाया। जब वह भिल्ल अपने व्रत में दृढ़ रहा, तो उसने उसे रास्ते की घटना सुना दी। सुनकर भिल्ल बहुत ही आश्चर्यचकित हुआ पुनः प्रसन्न होकर उसने सम्पूर्ण माँसों का त्याग कर दिया। जिसके फलस्वरूप मरकर वह सौधर्म स्वर्ग में देव हो गया। पुनः जब वह साला उधर से निकला तब भी वह यक्षिणी रुदन कर रही थी, पूछा अब क्यों रो रही है? तब उसने कहा कि आपने जाकर उसे सर्वमाँसों का त्याग करा दिया जिसके फलस्वरूप वह मेरा पति न होकर स्वर्ग में उत्तम जाति के देवों में देव हो गया है। बहन! कालांतर में यही जीव राजा श्रेणिक हुआ है, जो कि आगे तीर्थंकर होने वाला है अतः आपको पति के हिंसा कार्य में कभी सहयोगिनी नहीं बनना चाहिए प्रत्युत् चेलना का उदाहरण हमेशा अपने सामने रखना चाहिए।

सुधा–बहन! मैंने तो उन्हें बहुत कुछ समझा लिया किन्तु वे कहते हैं कि मरे हुए अण्डे में क्या दोष है? मैंने तो किसी जीव को मारा नहीं है!

सुमन–बहन! अमृतचन्द्रसूरि ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रंथ में लिखा है कि– "यद्यपि स्वयं ही मरे हुए भैंसे, बैल आदि का मांस है, तो भी उसमें भी बहुत ही हिंसा होती है क्योंकि उसके आश्रित अनन्त निगोद जीवों का घात हो जाता है।

माँस कच्चा हो, चाहे पकाया हुआ हो, चाहे पक रहा हो, प्रति समय उसमें उसी जीव की जाति के अनन्त निगोद जीवों का जन्म होता रहता है[1] अर्थात् यदि माँस मुर्गे का है तो उसी जाति के पंचेन्द्रिय निगोद जीव (सम्मूर्च्छन जीव) जन्म लेते रहते हैं इसलिए जो भी कच्चे या पके हुए कैसा भी माँस खाते हैं, अथवा छूते हैं, तो वे बहुत ही जीवों के समूह की हिंसा करते हैं।

बहन! इस हिंसा का फल कितना बुरा है। देखो! जो एक बार भी किसी जीव को मारता है, वह भव-भव में उसके द्वारा मारा जाता है और फिर अण्डे के जीव जो बेचारे अपने शरीर को पूर्णकर बाहर आ भी नहीं पाते हैं भला उनके मारने वाले और खाने वाले कितने महापापी हैं। ओह! निश्चित ही वे असंख्य बार गर्भावस्था में ही मरण को प्राप्त होवेंगे, इसमें कोई संदेह नहीं है। क्या तुमने यशोधर चरित्र नहीं पढ़ा है? मात्र आटे का मुर्गा बनाकर बलि देने वाले यशोधर ने भी कितना पाप बंध किया था जिसके फलस्वरूप कई भवों तक बलि के लिए मारा गया, काटा गया, पकाया गया और मांसाहारियों के द्वारा खाया गया। अपने पतिदेव को यशोधर चरित्र पढ़ने को देवो। यदि वे पढ़ेंगे तो अवश्य ही हिंसा के पाप से, मांसाहार के पाप से भयभीत हो जायेंगे।

सुधा–जब मैं उन्हें ज्यादा ऐसी कथाएँ सुनाती हूँ और समझाती हूँ तो वे कहते हैं कि मुझे इस क्रियाकांड में विश्वास नहीं है। आपको मालूम नहीं है कि आत्मा कर्मों का कर्ता नहीं है।

सुमन–ग्रंथों के सार को हर कोई नहीं समझ सकता है, तभी तो ये शास्त्र आजकल मूढ़ लोगों के लिए शस्त्र बन गये हैं। अस्तु! इस पर मैं फिर कभी चर्चा करूँगी, अभी तो मैं तुम्हें एक विशेष बात बताए देती हूँ। देखो, श्री अमृतचन्द्रसूरि ने समयसार की टीका की है। वे अपने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रंथ में लिखते हैं कि–

अष्टावनिष्ट दुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य।
जिनधर्मदेशनाया भवंति पात्राणि शुद्धधियः।।74।।

मद्य, मांस, मधु और पंच उदुम्बर फल ये आठ अनिष्ट हैं, दुस्तर पापों के

1. यदपि किल भवति मांसं स्वयमेव मृतस्य महिषवृषभादेः।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रितनिगोदनिर्मथनात्।।66।।
आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीषु।
सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानाम्।।67।।
आमां वा पक्वां वा खादति यः स्पृशति वा पिशितपेशीम्।
स निहन्ति सततनिश्चितं पिंडं बहुजीवकोटीनाम्।।68।। -पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

स्थान हैं, जो इन आठों का त्याग कर देते हैं वे ही शुद्ध बुद्धि वाले जीव जिनधर्म के उपदेश के पात्र होते हैं।

सुधा—ओह! तो इसका मतलब यह हुआ कि हमारे पति को समयसार पढ़ने का अधिकार नहीं है!

सुमन—हाँ बहन! यदि आचार्यों की आज्ञा का पालन करें तो सचमुच में अधिकार नहीं है, बात यह है कि मैंने कई बार आचार्यों और आर्यिकाओं के उपदेश सुने हैं। वह कहा करते हैं कि जैसे शेरनी का दूध स्वर्णपात्र में ही टिकता है वैसे ही इन महान् ग्रंथों का अर्थ सत्पात्र ही ग्रहण कर सकते हैं, ऐसे वैसे दुर्व्यसनी लोग नहीं, इसीलिए तो आचार्यों ने आठ वर्ष के बालक को ही इन आठ मूलगुणों को पालने का आदेश दिया है। जब वह बालक इन आठ मूलगुणों को लेकर उपनयन संस्कार से संस्कारित हो जाता है, तभी वह दान, पूजन और उत्तम ग्रंथों का पठन-पाठन आदि का अधिकारी होता है।

वास्तव में केवल समयसार का ज्ञान इस जीव को सुखी नहीं बना सकता है, जब तक कि वह चारित्र को ग्रहण नहीं करता है। श्री गौतम स्वामी भी कहते हैं–

''महुमंसमज्जजूआ वेस्सादिविवज्जणासीलो।
पंचाणुव्वयजुत्तो सत्तेहिं सिक्खावहेहिं संपुण्णो।
जो एदाइं वदाइं धरेइ सावया सावियावो वा।।''

मधु, मांस, मद्य, जुआ और वेश्यासेवन आदि का त्याग करने वाले पंच अणुव्रत से युक्त और सात शिक्षाव्रत से परिपूर्ण जो श्रावक या श्राविका इन व्रतों का पालन करते हैं, वे स्वर्गों के दिव्य सुखों का अनुभव कर परम्परा से अर्थात् दो, तीन या सात-आठ भव में नियम से मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं।

इसलिए बहन! धर्म की रक्षा करते हुए मर जाना अच्छा है क्योंकि यह शरीर तो अनन्त बार मिला है और मिलता ही रहेगा किन्तु धर्म को छोड़कर जीवित रहना अच्छा नहीं है, क्योंकि आखिर तो एक दिन मरना ही है, धर्म को छोड़कर मरने से यह जीव अनन्त भवों तक नरक-निगोदों में, तिर्यंच योनियों में अनन्त-अनन्त दुःखों को भोगता है इसलिए कम से कम मद्य, माँस, मधु और पंच उदुम्बर फल इनका त्याग तो मानव जीवन में अति आवश्यक है और वह धर्म की सर्वप्रथम सीढ़ी है इसके बिना सम्यक्त्व भी क्या हो सकता है?

सुधा—इसलिए बहन! यह श्लोक बहुत ही महत्त्व का है कि हे नाथ! जिनधर्म को छोड़कर मैं चक्रवर्ती की भी सम्पदा नहीं चाहता हूँ किन्तु जिनधर्म

से सहित होते हुए भले ही मैं दास हो जाऊँ, दरिद्री हो जाऊँ कोई चिन्ता नहीं है क्योंकि यह धर्म ही चिन्तामणि रत्न है, कल्पवृक्ष और कामधेनु है। इससे बढ़कर इस जीव के लिए सुखकर और कुछ भी नहीं है अतः मैं इस जीवन में कभी पति के हिंसादि कार्यों में सहयोगिनी नहीं बनूँगी, यह नियम लेती हूँ, चूँकि इस धर्म से ही शान्ति मिलेगी। पति का संबंध तो इस भव तक है, किन्तु यह धर्म ही परलोक में उत्तम गति को प्राप्त कराने वाला है और स्त्री-पर्याय से छुड़ाने वाला है।

जिनेन्द्र प्रतिमा के दर्शन का महत्व

जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा के दर्शन की भावना करते ही दो उपवास का फल मिल जाता है। चलने की अभिलाषा करते ही तीन उपवास का फल, चलने का आरंभ करते ही चार उपवास का फल, चलते-चलते पाँच उपवास का फल, कुछ दूर चले आने पर बारह उपवास का फल, बीच मार्ग में पहुँच जाने पर पन्द्रह उपवास का फल, सुमेरु की चोटी का दर्शन करते ही एक मास के उपवास का फल, मंदिर में प्रवेश करने पर छह मास के उपवास का फल, मंदिर के द्वार में प्रवेश करने पर एक वर्ष के उपवास का फल, तीन प्रदक्षिणा देने पर सौ वर्ष के उपवास का फल, जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा के दर्शन करने से हजार वर्ष के उपवास का फल मिलता है। पुनः जिनप्रतिमा के सन्मुख खड़े होकर भावपूर्वक स्तुति करने से अनंत उपवास का फल प्राप्त होता है। यथार्थ में जिनेन्द्र भगवान की भक्ति से बढ़कर और कोई उत्तम पुण्य नहीं है।

—पद्मपुराण, पर्व 32, पृ. 99

प्रत्युपकार

शशिप्रभा—बहन कनकलता! उपकार का बदला प्रत्युपकार से अवश्य ही चुकाना चाहिए।

कनकलता—हाँ बहन! जो उपकारी का उपकार भूल जाते है और उसका प्रत्युपकार नहीं करते हैं वे महापापी कहलाते हैं। सुनो, प्रत्युपकारी सुग्रीव की कथा मैं तुम्हें सुनाती हूँ।

किष्किंधापुरी का राजा सुग्रीव आपत्ति से घबराया हुआ श्रीरामचन्द्र की शरण में आया। शिष्टाचार के उपरान्त सब लोग अमृततुल्य वाणी से परस्पर वार्तालाप करने लगे। तदनन्तर सुग्रीव के मंत्री जाम्बूनद ने समस्त वृत्तांत निवेदन किया। उसने कहा कि—

हे राजन्! सुग्रीव की महादेवी सुतारा के रूप से मोहित हुआ कोई पापी विद्याधर माया से सुग्रीव का रूप बनाकर सुतारा के महल में प्रविष्ट हुआ, उसे देख महासती सुतारा ने भयभीत हो अपने परिजनों से कहा कि कोई दुष्ट मायाचारी विद्याधर विद्या से सुग्रीव का रूप धरकर आया है, इसका निष्कासन करो। उस समय वह सुग्रीव राजदरबार में सिंहासन पर जाकर बैठ गया। इधर सभी मंत्रीवर्ग और परिजन शंका में झूलते हुए चिंतित हो गये। इसी बीच सच्चा सुग्रीव राज दरबार में आया और वहाँ की चिंता तथा अपने रूपधारी व्यक्ति को देखकर क्रोधित हुआ गर्जना करने लगा, तब वह कृत्रिम सुग्रीव भी क्रोध से लालमुख होकर कठोर गर्जना करने लगा पुनः ओठों को कसते हुए उन दोनों बलवानों को युद्ध में उद्यत हुए देख मंत्रियों ने शान्तिपूर्वक शीघ्र ही उन्हें रोक दिया। तत्पश्चात् सुतारा ने कहा कि यह कोई दुष्ट विद्याधर है। शरीर, बल, कांति, आदि के तुल्य दिखने पर भी मेरे पति के शरीर में जो शंख, कलश आदि लक्षण हैं वे इसमें नहीं हैं, अतः यह मायावी है। उस समय दोनों की सदृशता के कारण शंकित हुए मंत्रियों ने सुतारा के इन शब्दों की अवज्ञा कर दी। उन मंत्रियों ने सलाह किया कि मद्यपापी, वेश्या, अत्यन्त वृद्ध, बालक, व्यसनी और स्त्रियों के वचनों का विद्वान् को विश्वास नहीं करना चाहिए। लोक में गोत्र की शुद्धि अत्यन्त दुर्लभ है, उसके बहुत बड़े राज्य से भी प्रयोजन नहीं है, निर्मल गोत्र पाकर शीलादि आभूषणों से विभूषित हुआ होता है इसलिए इस निर्मल अन्तःपुर की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करना चाहिए।

उस समय मंत्रियों ने अपकीर्ति के भय से उन दोनों का विभाग कर दिया।

अङ्ग नाम का पुत्र पिता की भ्रान्ति से बनावटी सुग्रीव के पास चला गया और अंगद नाम का पुत्र माता के अनुरोध से सत्य सुग्रीव के पास चला गया। संशय के वश में पड़ी सात अक्षौहिणी सेनाएँ एक सुग्रीव के आश्रय गईं और सात दूसरे सुग्रीव के आश्रय गईं। नगर के दक्षिण भाग में कृत्रिम सुग्रीव रखा गया और उत्तर भाग में सत्य सुग्रीव। सब ओर रक्षा करने वाले बालि के पुत्र चंडरश्मि ने संशय उपस्थित होने पर यह प्रतिज्ञा की कि इन दोनों में जो भी सुतारा के भवन के द्वार पर जावेगा, वह मेरी तलवार से मारा जावेगा।

अनन्तर स्त्री के विरह से व्याकुल सत्य सुग्रीव अनेकों बार खरदूषण के पास गया। खरदूषण की मृत्यु के बाद यह सुग्रीव हनुमान के पास गया। हनुमान ने आकर युद्ध करना चाहा, किन्तु दोनों की अत्यन्त सदृशता देखकर सोचने लगा कि ऐसा न हो कि मेरे द्वारा सच्चे सुग्रीव का ही वध हो जावे, इस प्रकार मुहूर्त भर मंत्रियों के साथ विचारकर वह हनुमान उदासीन भाव से वापस चला गया, तब सत्य सुग्रीव बहुत ही शोकातुर हुआ। हे राघव! यह अब आपको आश्रित जन वात्सल समझकर आपकी शरण में आया है।

इस घटना को सुनकर रामचन्द्र ने विचार किया कि अरे! यह तो मुझसे भी कहीं अधिक दुःखी है, क्योंकि इसका शत्रु तो इसके सामने ही बाधा पहुँचा रहा है पुनः राम ने कहा कि कृत्रिम सुग्रीव को मारकर तुम्हें तुम्हारी सुतारा से मिलाए देता हूँ। हे भद्र! उसे प्राप्त करने के बाद तुम मेरी प्राणाधिका सीता का पता चला सको, तो उत्तम बात है। यह सुनकर सुग्रीव ने कहा कि यदि मैं सात दिन के भीतर आपकी प्रिया का पता न चला दूँ तो अग्नि में प्रवेश कर लूँ। सुग्रीव के इन वचनों से राम परम आल्हाद को प्राप्त हुए। हम दोनों परस्पर में एक-दूसरे के मित्र हैं, इस प्रकार आदर के साथ उन दोनों ने जिनालय में जिन धर्मानुसार शपथ ग्रहण कर ली।

महासामन्तों से सेवित राम-लक्ष्मण सुग्रीव के साथ किष्किन्धापुर आ गये। कृत्रिम सुग्रीव के साथ भयंकर युद्ध शुरू हो गया। दोनों सुग्रीवों का परस्पर युद्ध होते-होते बनावटी सुग्रीव ने दूसरे पर गदा का प्रहार किया तब यह मूर्च्छित हो गया। वह मरा हुआ जानकर नगर में आ गया, इधर सत्य सुग्रीव को शिविर में लाकर शीतोपचार से सचेत किया गया, तब वह राम से बोला—हे नाथ! हाथ में आया चोर जीवित ही पुनः मेरे नगर में कैसे चला गया? जान पड़ता है कि अब मेरे दुःखों का अंत नहीं है। राम ने कहा कि मैं उस समय तुम दोनों का अंतर

नहीं जान सका, इसीलिए मैंने उसको नहीं मारा है। जिनागम का उच्चारण कर तू मेरा परममित्र हुआ है तो कहीं अज्ञान से तुझे ही न मार दूँ इस भय से चुप रहा हूँ।

अनन्तर पुनः युद्ध में कृत्रिम सुग्रीव का सामना स्वयं राम ने किया। कुछ क्षण में राम (बलभद्र) को आया देख वैताली विद्या उस कृत्रिम सुग्रीव के शरीर से निकलकर भाग गई, तब उसकी आकृति पहले के सदृश हो गई अर्थात् वह वानरवंशी 'साहसगति' नाम का राजा था। कुतूहल से भरे सब विद्याधरों ने आकर उस 'साहसगति' विद्याधर को पहचान लिया। इसके बाद उत्कृष्ट हर्ष के धारक सुग्रीव ने लक्ष्मण सहित रामचन्द्र की पूजा की तथा मनोहर स्तुतियों से स्तुति की।

पुनः अपनी स्त्री सुतारा को पाकर वह सुग्रीव भोगों में इतना मग्न हो गया कि वह सब कुछ भूल गया। इधर रामचन्द्र आदि उसी नगर के आनन्द नामक उद्यान में आ गये और वहाँ के चन्द्रप्रभ चैत्यालय की पूजा करके वहाँ रहने लगे। वहाँ पर सुग्रीव ने अपनी तेरह पुत्रियाँ रामचन्द्र को प्रदान कर दीं, वे कन्याएँ नाना प्रकार के संगीत-नृत्य आदि से रामचन्द्र का मन हरण करने का उद्यम किया करती थीं किन्तु वे रामचन्द्र उस समय सीता का ही ध्यान किया करते थे। उन्हें एक सीता की चर्चा के सिवाय और कुछ नहीं भाता था। वे पास में खड़ी हुई किसी स्त्री से बोलते भी थे, तो सीता समझकर ही बोलते थे। वे कभी मधुर वाणी में कौवे से पूछते थे कि हे भाई! तू समस्त देश में भ्रमण करता है अतः तूने कहीं सीता को तो नहीं देखा? देखो! राज्य और स्त्री को पाकर वह सुग्रीव मेरा दुःख भूलकर स्वयं आनन्द सागर में निमग्न हो गया है। ऐसा विचार करते-करते जिनके नेत्र आँसुओं से व्याप्त हो गये थे, ऐसे रामचन्द्र के अभिप्राय को लक्ष्मण समझ गये।

तत्क्षण ही क्रोध से युक्त हाथ में नंगी तलवार लेकर पृथ्वीतल को कँपाते हुए राज्य के समस्त अधिकारी मनुष्यों को अपने वेग से गिराकर सुग्रीव के घर में प्रविष्ट हुए और कहने लगे—अरे पापी! जब कि रामचन्द्र स्त्री के दुःख में निमग्न हैं, तब रे दुर्बुद्धे! तू स्त्री के साथ सुख में मग्न हो रहा है। ओ दुष्ट नीच! विद्याधर! मैं तुझे अभी वहीं पहुँचाता हूँ कि जहाँ राम ने तेरी आकृति वाले बनावटी सुग्रीव को पहुँचाया है। इस प्रकार क्रोधाग्नि के कणों के समान उग्रवचन बोलते हुए लक्ष्मण को सुग्रीव ने नमस्कार कर क्षमायाचना करते हुए

शान्त किया, काँपती हुई उसकी स्त्रियों ने हाथ में अर्घ्य लेकर आकर नमस्कार करते हुए उनके क्रोध को शान्त किया, तब लक्ष्मण ने उसे प्रतिज्ञा का स्मरण दिलाते हुए उसे सावधान किया।

तदनन्तर लक्ष्मण को आगे कर वह सुग्रीव रामचन्द्र के समीप आकर नमस्कार करके क्षमायाचना करने लगे और तमाम विद्याधरों को बुलाकर कहा कि तुम लोग शीघ्र ही भूतल में, आकाश में, जम्बूद्वीप में, धातकीखंडादि द्वीपों में सर्वत्र जा-जाकर सीता देवी का पता लगाओ। सीता के भाई भामण्डल को भी विद्याधर द्वारा समाचार गये और वे यहाँ आकर अत्यन्त व्याकुल हुए। सुग्रीव स्वयं भी सीता की खोज के लिए निकल पड़े। जम्बूद्वीप के एक पर्वत की शिखर से उपलक्षित आकाश में हवा से उड़ती हुई ध्वजा उसे दिखी, उसने नीचे उतरकर धूलि से धूसरित रत्नकेशी विद्याधर को देखा। उसने बताया कि हे सत्पुरुष! दुष्ट रावण ही सीता को हर कर ले जा रहा था। उसके रुदन को सुनकर मैं रावण से भिड़ गया, तब उसने मेरी समस्त विद्याएँ छीनकर मुझे यहाँ डाल दिया।

इस समाचार को सुनते ही सुग्रीव उसे विमान में बिठाकर रामचन्द्र के पास आ गये और उन्हें सीता हरण के समाचार कह सुनाये। बहन! यह सुग्रीव रावण के युद्ध के समय भी रामचन्द्र के साथ रहे हैं, इन्होंने उपकार का बदला प्रत्युपकार से चुकाकर अपना नाम अमर किया है। अन्त में ये सुग्रीव मुनि होकर तुंगीगिरी पर्वत से मोक्ष चले गये हैं।

शशिप्रभा—बहन! सुग्रीव ने बहुत ही अच्छा कार्य किया है।

कनकलता—हाँ बहन! ऐसे-ऐसे महापुरुषों का जीवन अनुकरणीय होता है।

जिनके उर में कल-कल बहती, गंगा की निर्मलधारा।
त्याग और शुभ ज्ञान मणि से, जिनने निज को श्रृंगारा।।
वचनों के मोती बिखरातीं, युग की पहली बालसती।
मेरा शत वन्दन स्वीकारो, गणिनी माता ज्ञानमती।।

—आर्यिका चंदनामती

शून्यवाद क्या है?

सुकौशल—माताजी! शून्यवाद किसे कहते हैं?

माताजी—एक सम्प्रदाय वाले हैं, वे कहते हैं कि जो कुछ भी चेतन-अचेतन पदार्थ दिख रहे हैं, वे कुछ नहीं, केवल कल्पना मात्र हैं। यह सारा जगत् "शून्यरूप" है कुछ है ही नहीं, केवल स्वप्न या इन्द्रजाल के समान सब प्रतिभासित हो रहा है। यहाँ तक कि इस शून्यवाद को सिद्ध करने में वह अनुमान का प्रयोग करता है, आगम से जोर देता है और कहता है कि आगम अनुमान आदि प्रमाण भी कल्पनामात्र हैं, ये वास्तविक नहीं हैं।

सुकौशल—वह अपने अस्तित्व को मानता है या नहीं?

माताजी—नहीं, वह कहता है कि हमारा अस्तित्व भी कल्पित ही है।

सुकौशल—ऐसा शून्यवाद तो बड़ा ही विचित्र है, जो कि अपने ही पैर पर अपने हाथ से कुठाराघात कर रहा है।

माताजी—आचार्य ने उससे प्रश्न किये हैं कि तुम्हारा शून्यवाद सिद्धान्त भी कल्पित है या अकल्पित? यदि कल्पित कहो, तब तो शून्यवाद कल्पित हो जाने से अस्तित्ववाद का अस्तित्व अपने आप सिद्ध हो जाता है और यदि कहो कि शून्यवाद अकल्पित सही है, तब तो एक चीज का अस्तित्व मान लेने से आप सर्वथा शून्यवाद नहीं रहते हैं।

सुकौशल—यह कौन सम्प्रदाय है?

माताजी—यह बौद्धों में एक भेद है जो कि बाह्य और अन्तरंग किसी भी वस्तु के अस्तित्व को नहीं मानकर सर्वथा शून्यवाद को कहता है।

सुकौशल—किन्तु वास्तव में तो यह शून्यवाद शून्य जैसा ही शून्य रह जाता है और आस्तिक्यवाद का अस्तित्व चमक उठता है क्योंकि जिस मत को सिद्ध करने वाले प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि प्रमाण स्वयं शून्यरूप हों और अपने शून्यवाद के पक्ष को रखने वाला भी स्वयं शून्यरूप हो तथा शिष्यवर्ग सुनने वाले भी शून्यरूप होवें और तो क्या कहने वाले के वचन भी शून्यरूप होवें, पुनः शून्य से शून्य की सिद्धि भी कैसे होगी?

यदि झूठों की गवाही देने वाला भी झूठा ही हो और न्यायाधीश भी झूठे हों, तब यह झूठा है, इस बात की सिद्धि भी कैसे हो सकेगी?

माताजी—हाँ सुकौशल, तुमने सही समझा है, वास्तव में चेतन-अचेतन

सभी पदार्थ विद्यमानरूप हैं। हाँ! जो संसार में संसारी जीवों के अनेक संबंध दिखते हैं और इनमें ये जीव राग-द्वेष-मोह करते हुए अपने आत्महित से च्युत हो रहे हैं, उनके लिए आचार्यों ने समझाया है कि ये धन, यौवन, प्रभुता आदि क्षणिक हैं, नियम से छूटने वाले हैं और ये पुत्र-मित्रादि के संबंध भी स्वप्न के सदृश असत्य हैं, काल्पनिक हैं, वास्तव में कोई किसी का नहीं है, जब एक जीव मरता है तो वहाँ जाकर नये कुटुम्बियों में आत्मीयता स्थापित कर लेता है और पिछले रोते-विलपते पुत्र-पौत्रों को याद भी नहीं करता है.....इत्यादि।

इसलिए इस संसार के सुख-दुःखों को कल्पनामात्र समझकर अपनी आत्मा की तरफ उन्मुख होना चाहिए।

यह आत्मा देहरूपी देवालय में विराजमान परमात्मा है अर्थात् शक्तिरूप में परमात्मा है। शुद्ध निश्चयनय से सिद्ध परमात्मा में और संसारी आत्मा में कोई भेद नहीं है, ऐसा समझकर उस आत्मस्वरूप को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

सुकौशल—ठीक ही है। आत्मा के अस्तित्व को माने बिना कोई भी अपने आपको सुखी नहीं बना सकता है और अपनी आत्मा के समान दूसरों की आत्मा का अस्तित्व भी स्वीकार करना होगा, तदनुसार अचेतन द्रव्यों का अस्तित्व भी है ही है। हाँ, वैराग्य के लिए इनकी क्षणभंगुरता को समझकर इनसे ममत्व घटाकर पुनः इनसे हटकर अपने में ही सच्ची ममता करना चाहिए।

माताजी—हाँ बेटी! तुमने बहुत ही ठीक समझा है।

सच तो इस नारी की शक्ति, नर ने पहचान न पाई है।
मन्दिर में मीरा है तो वह, रण में भी लक्ष्मीबाई है।।
है ज्ञान क्षेत्र में ज्ञानमती, नारी की कला निराली है।
सच पूछो नारी के कारण, यह धरती गौरवशाली है।।

इन्द्रध्वज विधान का महत्त्व

सुधा—जीजी! आपने तो इस चातुर्मास में आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी के पास बहुत कुछ अध्ययन किया होगा, बताओ तो सही, क्या-क्या पढ़ा है?

मालती—हाँ सुधा! अध्ययन तो किया है किन्तु बहुत कुछ न करके मात्र एक संस्कृत व्याकरण का ही अध्ययन किया है। चूँकि माताजी की चातुर्मास में दैनिक दिनचर्या नियमित थी अतः हम विद्यार्थियों को प्रातःकाल मात्र 6 से 7 बजे तक संस्कृत व्याकरण पढ़ाती थीं, पुनः 7 से 8 बजे तक समयसार ग्रंथ का स्वाध्याय चलता था। प्रायः 8 से 9 तक उपदेश होता था पुनः वे आहार के अनन्तर से लेकर सायंकाल 6 बजे तक अपने लेखनकार्य में व्यस्त रहती थीं। कदाचित् कोई विशेष कार्य के लिए अथवा बाहर से आये हुए श्रावकों के लिए ही समय दिया करती थीं।

सुधा—माताजी ने इस चातुर्मास में कौन सा ग्रंथ लिखा है? बताइये, माताजी के लिखे हुए ग्रंथ हमें भी बहुत अच्छे लगते हैं।

मालती—माताजी ने इस चातुर्मास में महान इन्द्रध्वज विधान हिन्दी काव्यरूप बनाया है, जो कि वीर प्रभु की निर्वाण बेला में 23 अक्टूबर 1976 को पूर्ण हुआ है। पुन; हम लोगों ने उस महान ग्रंथ की बड़ी भक्ति से पूजा की है।

सुधा—यह 'इन्द्रध्वज विधान' क्या है? इसका तो मैंने आज तक नाम भी नहीं सुना?

मालती—यह अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है, इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ कुछ ही हैं, जिससे कोई-कोई लोग कहीं-कहीं पर कभी-कभी ही कराते हैं। इसलिए तुमने उसका नाम नहीं सुना है। इस विधान में एक श्लोक आया है कि-

''यत्र यत्र कृता पूजा तत्र तत्र विडोजसा।
ध्वजा प्रस्थापिता नित्यं तस्मादिन्द्र ध्वजं स्मृतं।।''

इन्द्र ने जहाँ-जहाँ (जिनमंदिरों में) पूजाएँ की हैं, वहाँ-वहाँ पर ध्वजा स्थापित कर दीं, इसलिए इस विधान को ''इन्द्रध्वज'' विधान कहते हैं।

सुधा—तब तो इस विधान को इन्द्र लोग ही कर सकते हैं, मनुष्य कैसे कर सकते हैं?

मालती—नहीं सुधा, ऐसी बात नहीं। देखो! साक्षात् तीर्थंकरों के पंचकल्याणक महोत्सव को इन्द्रादि देवगण ही करते हैं, फिर भी आजकल पंचकल्याणक

प्रतिष्ठाओं में श्रावक ही तो इन्द्र बनकर अनुष्ठान करते हैं तथा नन्दीश्वर द्वीप में भी मनुष्य नहीं जा सकते हैं, फिर भी यहाँ पर उनकी पूजा अवश्य करते हैं।

सिद्धचक्र विधान आदि जितने भी विधान हैं, उनमें भी तो विधानाचार्य विद्वान् श्रावकों को यज्ञ दीक्षा देते हुए मंत्रों के द्वारा उन्हें इन्द्र बनाते हैं और तभी तो विधान के अनुष्ठान तक उन विधान करने वालों को घर का सूतक-पातक आदि भी नहीं लगता है। नित्य पूजन भी तो **''इन्द्रोऽहं निजभूषणार्थमिदं यज्ञोपवीतं दधे''** इत्यादि प्रकार से पूजक उपचार से इन्द्र बनकर पूजा करते हैं, दूसरी बात यह है कि यह विधान इन्द्रों के लिए तो बनाया नहीं गया है और देश के लगभग हर छोटे-बड़े स्थानों पर बड़े-बड़े प्रतिष्ठाचार्यों के द्वारा कराया भी जा चुका है इसलिए यह तुम्हारी शंका बिल्कुल व्यर्थ है।

मैंने सुना है कि एक बार वर्षा नहीं हुई बिल्कुल अकाल पड़ रहा था, उस समय इस विधान के कराते ही मूसलाधार वर्षा हो गई और अकाल का संकट दूर हो गया इसलिए यह विधान अत्यन्त चमत्कारिक है।

सुधा—तब तो जीजी! इस विधान को अकाल पड़ने पर ही कराना चाहिए सुकाल में कैसे करा सकते हैं?

मालती—सुधा, तू तो बिल्कुल पागल जैसी बातें कर रही हैं। अरे, सिद्धचक्र विधान के प्रभाव से मैनासुन्दरी ने अपने पति श्रीपाल का कुष्ठ रोग दूर कियाथा तो क्या आज कोई पति के कुष्ठ रोग होने पर ही सिद्धचक्र विधान करे अन्यथा न करे। अरे! यह भी कोई बात है। देखो! जितने भी विधान हैं, वे सभी सम्पूर्ण कार्यों की सिद्धि के लिए माने गये हैं। सभी विधिविधानों का फल अनेक प्रकार के संकटों को दूर करके महान् पुण्य द्वारा इन्द्रादि के वैभव को प्राप्त कराना है और परम्परा से मोक्ष प्राप्त कराना भी है। मंत्रों का भी ऐसा ही माहात्म्य है। सिद्धचक्र, ऋषिमण्डल या णमोकार आदि मंत्रों में भावना, विधि, पल्लव आदि के अनुसार पृथक्-पृथक् फल देने की शक्ति हो जाया करती है। जैसे शान्ति के हेतु मंत्र में स्वाहा पल्लव मात्र है। पुष्टि के लिए स्वधा, आकर्षण के लिए संवौषट् इत्यादि।

ऐसे ही विधान भी जिस उद्देश्य से किया जायेगा, वही मनोरथ सफल हो जायेगा और यदि केवल पुण्य सम्पादन या धर्म प्रभावना हेतु किया जायेगा, तो वैसा ही फल मिलेगा। चूँकि निरीहवृत्ति से किया गया विधि-विधान महान अभ्युदयों को प्रदान करते हुए परम्परा से मोक्ष का कारण माना गया है, इसमें कोई संदेह नहीं है अतः इस महान् इन्द्रध्वज विधान को चाहे जब भी किया जा सकता है।

सुधा—अच्छा, तो अब आप यह बतलाइये कि अन्य विधानों की अपेक्षा इसमें क्या-क्या विशेषताएँ हैं?

मालती—हाँ सुनो! इस विधान में मुख्यरूप से मंडल पर स्थापित किये गये मंदिरों के शिखरों पर ध्वजाएँ चढ़ाई जाती हैं।

सुधा—ये ध्वजाएँ कैसी होती हैं?

मालती—इन ध्वजाओं के दस प्रकार के चिन्ह होते हैं, जो कि उसी ग्रंथ के श्लोक में बताये गये हैं। यथा—

मालामृगेन्द्रकमलाम्बर वैनेतेय मातंग गीपतिरथांगमयूरहंसाः।

माला, सिंह, कमल, अम्बर, गरुड़, हाथी, वृषभ, चकवा-चकवी, मयूर और हंस ये चिन्ह पृथक्-पृथक् ध्वजाओं में बनाये जाते हैं।

सुधा—अरे जीजी! तो क्या मंदिरों में पशुओं को इकट्ठा किया जाता है।

मालाती—नहीं सुधा, ऐसा नहीं कहना, देखो! भगवान तीर्थंकर की प्रतिमाओं में भी तो वृषभ, हाथी, घोड़ा, बंदर आदि के चिन्ह रहते हैं, तो क्या उन महान् तीर्थंकरों के चिन्ह के बारे में भी ऐसा तुम सोच सकती हो? देखो, बिना सोचे-समझे ही कुछ बोल देना तो महापाप का कारण है। ध्वजाओं के इन चिन्हों के बारे में तो महान् ग्रंथों में भी प्रमाण है। श्री यतिवृषभाचार्य ने तिलोयपण्णत्ति ग्रंथ में लिखा है जो कि महान् प्राचीन ग्रंथ है, वैसे ही त्रिलोकसार, जम्बूद्वीपपण्णत्ति और हरिवंशपुराण में भी लिखा है। यह प्रकरण अकृत्रिम अनादिनिधन चैत्यालयों के वर्णन में है, जो कि चैत्यालय या उनकी व्यवस्था तथा वहाँ रचनाएँ आदि किसी के द्वारा निर्मित नहीं हैं। सारे प्रमाण तुम देखो, पढ़ो।

[1]**हरिकरिवसहखगाहि व सिहि ससि रविहंस कमल चक्कधया।**
अट्ठत्तर सयसंखापत्तेक्कं तेत्तिया खुल्ला।।1925।।

सिंह, हाथी, बैल, गरुड़, मोर, चन्द्र, सूर्य, हंस, कमल और चक्र इन चिन्हों से युक्त ध्वजाओं में से प्रत्येक एक सौ आठ और इतनी ही क्षुद्र ध्वजाएँ हैं।

[2]**सोहगय हंस गोवइ सयवत्त मऊरमय रघयणिवहा।**
चक्कायवत्त गरुड़ा दसविहसंखा मुणेयव्वा।।32।।

सिंह, हंस, गज, वृषभ, कमल, मयूर, मकर, चक्र, आतपत्र और गरुड़ इन दस प्रकार की ध्वजाओं के समूह जानना चाहिए।

1. तिलोयपण्णत्ति, पृ. 393। 2. जम्बूद्वीपपण्णत्ति।

[1]**सिंहगयवसहगरुड़सिंहिंदिण हंसारविंद चक्कधया।**
पुह अट्ठसया च उदिसमेक्केक्के अट्ठसय खुल्ला।।1010।।

उपर्युक्त ही अर्थ है।

[2]**सिंह हंसगजांभोज दुकूलवृषभध्वजैः।**
मयूरगरुड़ाकीर्णश्चक्रमाला महाध्वजैः।।369।।
दशार्धवर्णभासद्भिर्दशभेदैर्दिशो दश।

सिंह, हंस, गज, कमल, वस्त्र, वृषभ, मयूर, गरुड़, चक्र और माला के चिन्हों से सुशोभित दस प्रकार की पंचवर्णी महाध्वजाओं से उन चैत्यालयों की दसों दिशाएँ ऐसी जान पड़ती हैं मानो लहलहाते हुए नूतन पत्तों से ही युक्त हों। और भी अनेकों ग्रंथों में जहाँ सुमेरु आदि के अकृत्रिम चैत्यालयों का वर्णन है, वहाँ पर इन दस प्रकार के चिन्हों सहित ध्वजाओं का वर्णन आता है।

सुधा—जीजी, आपने इन चिन्हों का स्पष्टीकरण कर दिया, तो बहुत ही अच्छा किया, नहीं तो मैं मिथ्यादृष्टि बहुत पाप बंध करती रहती। अच्छा यह तो बताइये कि ये ध्वजाएँ क्या मंडल पर अर्घ्य के साथ चढ़ाई जाती हैं?

मालती—नहीं-नहीं, ये ध्वजाएँ तो मंडल पर स्थापित किये गये मंदिरों के शिखरों पर चढ़ाई जाती हैं। यह तो मैंने पहले भी बता दिया है अथवा स्टैंड में लगाकर मंदिरों के स्थान पर स्थापित कर दी जाती हैं। सुधा इन ध्वजाओं का अर्घ्य से संबंध नहीं है। देखो! यहाँ अपने मंदिरों पर जो ध्वजाएँ लहरा रही हैं, वे जब शिखरों पर आरोपित की जाती हैं, तब उन्हें चढ़ाना भी कहते हैं। जैसे कि आज मंदिर पर ध्वजा चढ़ेगी इत्यादि। इससे कोई भगवान को ध्वजा चढ़ाने का मतलब नहीं है, भगवान की पूजा में तो अष्टद्रव्य की सामग्री ही चढ़ाई जाती है।

सुधा—जीजी! अब यह विधान हमें कब देखने को मिलेगा?

मालती—बहुत जल्दी ही विधान होगा, जब तुम्हें देखने को मिलेगा। सुधा मैं इस विधान का क्या वर्णन करूँ? माताजी की यह रचना बहुत ही सुन्दर बनी है। इसमें 43 प्रकार के छंदों का प्रयोग किया गया है। यह बहुत ही सरल, सरस और मधुर है। तिलोयपण्णत्ति, त्रिलोकसार आदि तमाम ग्रंथों के आधार को लिए हुए बहुत से अकृत्रिम रचनाओं का दिग्दर्शन कराने वाली है।

सुधा—जीजी! सचमुच में माताजी की सारी रचनाएँ अपने आप में बहुत ही सुन्दर हैं।

1. त्रिलोकसार, पृ. 763। 2. हरिवंशपुराण, पृ. 95।

सच्चे बांधव

सुषमा—माताजी! इस संसार में अपने हितैषी सच्चे बांधव कौन हैं?

आर्यिका—सुषमा! जो अपने को आत्महित के मार्ग में प्रेरित करें, वे ही अपने सच्चे बांधव हैं। देखो, श्री रविषेणाचार्य ने यही बात स्पष्ट कही है—

"इस जगत में संसारी जीवों का वैसा हित न माता करती है न पिता, न बंधुवर्ग न मित्रगण ही, कि जैसा हित गुरुजन करते हैं मोक्षमार्ग में लगाकर। इसलिए इस स्वार्थमय संसार में सच्चे बांधव गुरु ही हैं। उदाहरण देखो—[1]

विद्याधर राजा महाबल की जन्मगाँठ थी, अनेक उत्सवों के अनन्तर मंत्रीगण राजा के सामने मनोरंजन हेतु धर्मचर्चा कर रहे हैं। महामति, संभिन्नमति और शतमति इन तीनों मंत्रियों ने मिथ्यात्व का पोषण किया, तब स्वयंबुद्ध मंत्री ने इन तीनों के सिद्धान्तों का खण्डन करके जैनमत का समर्थन किया।

किसी दिन महाबल ने स्वप्न में देखा कि "तीनों मंत्रियों ने मुझे कीचड़ में गिरा दिया है तथा स्वयंबुद्ध मंत्री ने सिंहासन पर बिठाकर अभिषेक किया है।" दूसरे स्वप्न में देखा कि "अग्नि की ज्वाला क्षीण हो रही है।" स्वप्न के बाद वे स्वयंबुद्ध मंत्री की प्रतीक्षा कर ही रहे थे।

स्वयंबुद्ध मंत्री ने अवधिज्ञानी मुनि से सारा वृत्तान्त समझकर आकर उसका फल बताया और उन्हें पुनः सच्चे धर्म का उपदेश दिया तथा कहा कि अब तुम्हारी आयु एक मास की शेष है। मंत्री के उपदेश से राजा ने धर्मानुष्ठान करके सल्लेखना ले ली, फलस्वरूप मरण कर ऐशान स्वर्ग में देव हो गये। वहाँ से आकर राजा वज्रजंघ होकर आहारदान के प्रभाव से उत्तम भोगभूमि में आर्य हो गये। एक समय भोगभूमि में युगलदम्पत्ति बैठे थे कि आकाशमार्ग से युगल मुनि उतरे। इस दम्पत्ति ने स्वागत कर नमस्कार किया पुनः पूछा—

"भगवन्! आप कहाँ से आये हैं? मेरे हृदय में आपके प्रति अपनत्व का भाव उमड़ रहा है।" मुनि ने कहा—

"आर्य! तुम्हारी महाबल की पर्याय में मैं तुम्हारा स्वयंबुद्ध मंत्री था। अब मैंने विदेह में प्रीतिंकर राजपुत्र होकर दीक्षा ले ली है। मुझे अवधिज्ञान व

1. तथा न माता न पिता न वा सुहृत्, सहोदरो वा कुरुते नृणां प्रियम्।
प्रदाय धर्मे मतिमुत्तमां यथा, हितं परं साधुजनः शुभोदयाम्।।
(पद्मपुराण पु., पर्व 53)

चारणऋद्धि प्राप्त हो गई है यह मुनि मेरा छोटा भाई है। चूँकि आप पर मेरा उस समय भी अधिक स्नेह था, अतः इस समय उसी स्नेह से खिंचकर मैं तुम्हें सम्बोधन करने यहाँ आया हूँ।

हे भव्य! निर्मल सम्यक्त्व के बिना तुम केवल आहारदान के प्रभाव से यहाँ उत्पन्न हुए हो, सो मैं तुम्हें सम्यक्त्वरूपी अमूल्य निधि देने के लिए यहाँ आया हूँ। अनन्तर श्रीमती के जीव आर्या को सम्बोधन कर बोले—

"हे मातः! सम्यग्दर्शन के बिना यह स्त्री पर्याय प्राप्त होती है अतः तू भी सम्यक्त्व को ग्रहण करके स्त्री पर्याय से छूटकर सप्त परमस्थानों को प्राप्त कर।" पति-पत्नी दोनों ने गुरु से सम्यक्त्व ग्रहण कर धर्मोपदेश सुना। उन दोनों को ही दोनों मुनिराजों ने बार-बार धर्मप्रेम से स्पर्श किया और मस्तक पर हाथ रखकर अनन्तर आशीर्वाद देकर चले गये। ये दोनों प्राणी वहाँ की आयु पूर्णकर सम्यक्त्व के बल से दूसरे स्वर्ग में देव हो गये। महाबल का जीव जो देव हुआ था, उसका नाम श्रीधर था।

एक समय प्रीतिंकर मुनि को केवलज्ञान हुआ जानकर अतीव श्रद्धा से श्रीधर ने आकर उनकी पूजा की। चूँकि इन्हीं ने महाबल की पर्याय में इसे धर्म ग्रहण कराया था, पुनः ये ही भोगभूमि में सम्यक्त्वरत्न देकर आये थे। पुनः श्रीधरदेव ने पूछा—

"भगवन्! महाबल अवस्था के मेरे तीनों मंत्री इस समय कहाँ हैं?"

केवली ने कहा—

"भद्र! महामति और संभिन्नमति ये दो तो मिथ्यात्व के महापाप से निगोद में चले गये हैं, जहाँ पर हम या आप कोई भी सम्बोधित नहीं कर सकते तथा शतमति मंत्री मरकर द्वितीय नरक चला गया है। तब वह देव द्वितीय नरक भूमि में जाकर उसे सम्बोधित कर सम्यक्त्व ग्रहण कराकर मिथ्यात्व की बार-बार निन्दा करता हुआ अपने स्थान चला जाता है। यही "श्रीधरदेव" आगे चलकर "ऋषभदेव तीर्थंकर" हुआ है।

सुषमा—जब कोई रुचि से गुरु की शिक्षा ग्रहण करे तो ठीक है अन्यथा साधुओं को जबरदस्ती नहीं करना चाहिए।

आर्यिका—सर्वथा ऐसी बात नहीं है। यदि कोई स्वरुचि से भी विष खाता है तो भी वह मरेगा ही और यदि कोई किसी के विशेष आग्रह से स्वरुचि न होते हुए भी मिश्री खाता है तो मीठी लगेगी ही अथवा जबरदस्ती भी किसी के द्वारा

दवाई पिलाई जाती है, तो भी वह स्वास्थ्य लाभ ही करती है न कि हानि, उसी तरह जबरदस्ती से भी यदि कोई गुरु धर्म ग्रहण कराते हैं, तो भी वे सच्चे बाँधव ही हैं।

उदाहरण के लिए–

वारिषेणमुनि ने अपने मित्र पुष्पडाल को जबरदस्ती बिना रुचि के दीक्षा दिला दी, आखिर बारह वर्ष बाद वह सच्चा मुनि बन ही गया। ऐसे ही भावदेव मुनि ने अपने छोटे भाई भवदेव को जबरदस्ती दीक्षा दिलाई। वह भी कालान्तर में भावलिंगी मुनि बन गया अनन्तर वही जम्बूस्वामी होकर मोक्ष चला गया है।

जीवन्धर के गुरु आर्यनन्दी ने जीवन्धर को जबरदस्ती करके बल्कि गुरु दक्षिणा रूप में वचन लेकर के ''एक वर्ष के लिए युद्ध से उसे रोक दिया।'' जीवन्धर ने आर्यिका वेष में अपनी माता विजया और सुनन्दा के चरण पकड़कर हठ किया कि ''आप यहीं राजपुरी में ही विहार करें, अन्यत्र न जावें'' यह वचन देवें, जब माताओं ने उसका आग्रह स्वीकार कर लिया, तब जीवन्धर ने चरण छोड़े।

इस प्रकार से गुरु तो शिष्य के हित के लिए जबरदस्ती करते ही हैं, कभी-कभी शिष्य भी अपने हित के लिए गुरु से जबरदस्ती कर उनसे लाभ ले लेते हैं।

सुषमा–यदि साधु घर से मोह छोड़कर शिष्यों के मोह में फँस गये, तो वे निर्मोही कहाँ रहे?

आर्यिका–मोह, प्रेम, स्नेह और वात्सल्य, इनमें बहुत बड़ा अन्तर है। जो कुटुम्ब, स्त्री, घर, धन, परिजनसम्बन्धी मोह है वह सर्वथा हानिप्रद ही है। जैसे–माता सहदेवी पति और पुत्र सुकौशल के दीक्षा ले लेने पर उन्हीं के मोह में रो-रोकर आर्तध्यान से मरी और व्याघ्री हो गई पुनः उन्हीं पति-पुत्रों को भक्षण करने दौड़ी। जिनदत्त सेठ जी मरते समय पत्नी के मोह से युक्त थे, मरकर घर की बावड़ी में मेंढक हो गये।

इसका नाम है मोह और व्यवहार में प्रायः प्रेम शब्द का प्रयोग वासनाजनित अनुराग में होता है, जो कि पति-पत्नी के रूप में देखा जाता है। यह भी परलोक में हानिप्रद है उपर्युक्त सेठ के सदृश।

किन्तु जो मुनियों का धर्मप्रेम चतुर्विध संघ पर या किसी भव्य विशेष पर होता है, वह कहलाता है वात्सल्य। जैसे गाय अपने बछड़े पर सहज अकृत्रिम स्नेह रखती है, वैसे ही धर्मात्मा का धर्मात्मा के प्रति सहज अकृत्रिम स्नेह 'वात्सल्य' इस पवित्र नाम से जाना जाता है।

गुरु का विशेष वात्सल्य शिष्य को मिले यह उसके अनेक पूर्वभवों में संचित किये हुए पुण्य का ही उदय समझना चाहिए। प्रीतिंकर गुरु का वात्सल्य भोग-भूमिज वज्रजंघ जीव को प्राप्त हुआ, उन्हें सम्यक्त्व मिला कालान्तर में वे तीर्थंकर बन गये। भद्रबाहु गुरु का स्नेह सम्राट् चन्द्रगुप्त को मिला, वे महामुनि बन गये।

एक समय सहस्ररश्मि को रावण द्वारा बाँधा गया सुनकर चारण ऋद्धिधारी शतबाहु मुनि रावण के दरबार में पहुँचे और बोले–

''रावण! तुम मेरे पुत्र को छोड़ दो।''

रावण के द्वारा छोड़े गये पुत्र सहस्ररश्मि ने अपने पिता महामुनि के साथ ही जाकर जैनेश्वरी दीक्षा ले ली।

इस तरह गुरुओं का किसी भी भक्त या अपने पुत्रादि के प्रति भी जो धर्मस्नेहपूर्ण वात्सल्य है, वह उस जीव के हित के लिए ही होने से मुनियों के लिए भी दोषास्पद नहीं है प्रत्युत् सरागी मुनि की यह चर्या ही है। जैसाकि श्री कुन्दकुन्द देव ने कहा है–

दंसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं।
चरिया हि सरागाणां जिणिंदपूजोवदेसो यः।।[1]

दर्शन-ज्ञान का उपदेश, शिष्यों का संग्रह और उनका पोषण तथा जिनेन्द्रदेव की पूजा का उपदेश, ये सब सरागी छठे गुणस्थानवर्ती मुनियों की चर्या है। यह निंद्य नहीं है।

श्री गुणभद्रसूरि कहते हैं–

तप-श्रुत आदि धर्मसंबंधी जो राग है, वह प्रातः काल की लालिमा के समान है। जैसे प्रातः की लालिमा सूर्य के उदय को लाती है, वैसे ही धर्मनिमित्तक राग जीवों के मोक्ष प्राप्ति के लिए कारण है और गृहस्थ परिवारसंबंधी राग सायंकाल की लालिमा के समान है-जैसे वह लाली अंधकार को लाती है ऐसे ही शरीर आदि संबंधी राग भी दुर्गति को प्राप्त कराने वाला है।[2]''

इसलिए साधुओं का उपकार की भावना से भक्तों के प्रति किया गया वात्सल्य गुणकारी ही है।

यही कारण है कि कदाचित् साधुजन श्रावकों के प्रति परम करुणार्थ तथा व्यथितमना हो जाते हैं। जैसे कि–

1. प्रवचनसार। 2. आत्मानुशासन श्लोक 123-124।

रामचन्द्र ने लक्ष्मण के दाह संस्कार के बाद अर्हद्दास सेठ को देखते ही पूछा-

''भद्र! मुनिसंघ की कुशल तो है?''

सेठ अर्हद्दास ने कहा–

''हे रामचन्द्र! आपकी व्यथा से इस पृथ्वीतल पर महासाधु भी परम व्यथा को प्राप्त हुए हैं, अब आपके लिए ही स्वयं ''सुव्रत'' महामुनि यहाँ पधारे हैं।[1]''

ऐसा सुनकर रामचन्द्र के हर्षाश्रु आ गये।

सुषमा–मैंने एक पुस्तक में पढ़ा था कि जब जिस व्यक्ति की कुछ भी त्याग के लिए अन्तरंग से प्रेरणा उठे, सहज भावना बने, तभी त्याग करना चाहिए अन्यथा किसी की प्रेरणा से या दबाव से किया गया त्याग व्यर्थ ही है?

आर्यिका–तीर्थंकरों ने और उनके अनुयायी जैनाचार्यों ने ऐसा कदापि नहीं कहा है। भाई! यह सिद्धान्त तो वामपंथ है। आज जो अपने को भगवान कहने वाले, कोई स्व-पर वंचक पुरुष ऐसा प्रतिपादन कर रहे हैं, सो सर्वथा ही गलत है। अनादिकाल से इस जीव के संस्कार मिथ्यात्व और विषय कषायों की वासना से वासित ही हो रहे हैं अतः प्रायः करके अन्तरंग की प्रेरणा इन कार्यों के लिए ही हुआ करती है। जैसे जल का स्वभाव नीचे बहने का ही है, प्रयोग से उसे (यंत्रों द्वारा) ऊपर पहुँचाया जाता है, वैसे ही मन का स्वभाव भी प्रायः विषय-कषाय अथवा दुर्व्यसनों की ओर ही दौड़ने का है। प्रयोग से–गुरुओं की प्रेरणा से अथवा उनके द्वारा कराये गये आग्रहपूर्वक नियम आदि के निमित्त से ही यह मन शुभ कार्यों में–आत्महित में प्रवृत्त हो पाता है।

छोटा बालक स्वभावतः अग्नि की लौ को पकड़ने के लिए या सर्प को पकड़ने के लिए दौड़ता है, कदाचित् गन्दी वस्तु भी मुँह में डालने लगता है, तो माता उसे रोकती है, पकड़ लेती है यहाँ तक कि वह रोने लगता है, मचल जाता है तो भी माँ उसे उन अनर्थों से बचाती ही है, बालक के रोने-धोने की परवाह नहीं करती है, वैसे ही गुरुजन संसारी, मोही, अज्ञानी, विषयों में फँसे हुए आत्महित से पराङ्मुख ऐसे जीवों को बार-बार हित का उपदेश देते हैं, पाप के फलों को सुनाकर उसे विरक्त कराना चाहते हैं, कदाचित् आग्रहपूर्वक भी नियम-व्रत आदि देकर महान् उपकार करते ही हैं। उनके उदाहरण भावदेव, वारिषेण आदि के ऊपर दिये जा चुके हैं।

आज भी चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागर, वीरसागर, आचार्यकल्प

1. पद्मपुराण पर्व 119।

चन्द्रसागर जी आदि ने जिन श्रावकों को जबरदस्ती भी शुद्ध खानपान का नियम दिया है, चमड़े की मशक का पानी पीना छुड़ाया है, बारह व्रत आदि दिये हैं, रात्रि भोजन का त्याग कराया है, या दीक्षा दी है, वे श्रावक-मुनि-आर्यिका आदि बार-बार उनके उपकार को स्मरण करते हुए, उनके गुणानुवाद करते हुए देखे जाते हैं तथा वे गुरु के प्रसाद से ही अपने जीवन को पवित्र बनाकर मोक्षमार्गी बन गये हैं।

वास्तव में बलपूर्वक हाथ पकड़कर मोक्षमार्ग में लगाने वाले ऐसे गुरु ही सच्चे माता-पिता हैं, बंधु हैं, मित्र हैं। श्री वादीभसूरि ने कहा भी है–

''गर्भाधान-क्रियान्यूनौ पितरौ हि गुरुर्नृणाम्''

गुरु मनुष्यों के लिए गर्भाधान क्रिया से रहित माता-पिता ही हैं। यही कारण है कि गुरु अकारण बंधु होने से सच्चे बांधव भी कहलाते हैं।

गुरु गोवर्द्धनाचार्य ने गोली खेलते हुए बालकों में देखा कि एक छोटा सा बालक एक पर एक ऐसे 14 गोली चढ़ा गया है, उसे भावी श्रुतकेवली समझकर उसके माता-पिता की अनुमति लेकर उसे अपने साथ ले गये, विद्याध्ययन कराकर योग्य बना दिया। यह बालक ही अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु हुए हैं। ऐसे आदिपुराण के कर्ता जिनसेन भी लघुवय में गुरु के पास रहकर पढ़े हैं जबकि इनका कर्णवेधन संस्कार भी नहीं हुआ था। मैनासुन्दरी आदि कई एक सतियों ने भी आर्यिकाओं के पास रहकर पढ़ा है।

इन गुरुओं ने छोटे-छोटे बालक-बालिकाओं को माता के सदृश ममता दी थी, पिता के सदृश उनका संरक्षण किया था और मोक्षमार्ग का उपदेश देकर सच्चे गुरु कहलाए थे अतः आज भी जो गुरु शिष्यों को मोक्षमार्ग का उपदेश देकर उसमें प्रेरित करते हैं, पास में रहने वाले शिष्यों का पोषण-संरक्षण करते हैं, वे ''**स्वयं तरन् तारयितुं क्षमः परान्**'' वाक्य के अनुसार स्वयं भी संसार-समुद्र से पार होने वाले हैं और दूसरों को भी पार करने में समर्थ हैं अतः वे सच्चे गुरु हैं, सच्चे बांधव हैं।

सुषमा–माताजी! आपकी बात मेरी समझ में आ गई है अतः अब मैं भी गुरुओं के दर्शन करके उनसे प्रेरणा प्राप्त करके अपनी आत्मा का हित करूँगी।

दोषारोपण से हानि

विजया—हे माताजी! मेरे घर में निरन्तर बहुत ही अशांति मची रहती है, किस प्रकार से शान्ति हो, आप ही कुछ उपाय बतलाइये?

आर्यिका—किस हेतु से अशांति रहती है, कुछ कारण तो बताओ?

विजया—जहाँ तक मेरा अनुभव है बात यह है कि मेरी माँ हमेशा घर में हर किसी पर संदेह की दृष्टि रखती है। कोई किसी से हँसकर बोल दे या कुछ भी बात कर ले, बस वह चारित्रहीन हो गया। कोई ब्रह्मचारी-ब्रह्मचारिणी अथवा साधु-साध्वी ही क्यों न हों, वे सभी पर अपनी संदिग्ध दृष्टि रखती हैं और समय पाकर कुछ आरोप अवश्य लगा देती हैं। पिताजी से भी उनका इसी बात पर हमेशा झगड़ा हुआ करता है। अपने पुत्रों और पुत्रियों को भी वे सदैव बुरा-भला ही सुनाया करती हैं। यही कारण है कि ऐसे ही संस्कार आने वाली बहुओं में भी हो गये हैं, वे भी अपने पति को, देवर को, नन्दों को आरोप लगाने में चूकती नहीं हैं। आज इसका परिणाम यह हो गया है कि घर में एक दिन को या एक क्षण को भी शान्ति का अनुभव नहीं होता है। मैं कुछ ही दिनों के लिए पीहर आती हूँ, तो कभी माँ कुछ आरोप लगाती हैं, तो कभी भावज और कभी बहनें ही मर्मछेदी शब्द सुना डालती हैं। अब ऐसी स्थिति में क्या किया जाये? इतने बड़े समाज में या इतने बड़े परिवार में न सब निर्दोष ही हैं और न सब सदोष ही हैं। जो निर्दोष हैं, उनकी अन्तरात्मा पर क्या चोट पहुँचती है? सो तो वे ही जानते हैं किन्तु सदोष की आत्मा भी दुःखती है और इस तरह के वातावरण से उनकी गलतियाँ तो निकलती नहीं हैं, मात्र क्लेश ही बढ़ता है।

आर्यिका—विजया! मैं तुम्हें एक कथा सुनाती हूँ, तुम अपनी माँ और अपने घर में सबको सुनाना, तब उनको अवश्य ही बोध प्राप्त होगा।

"उज्जयिनी में सोमशर्मा नाम का एक ब्राह्मण था, उसकी पत्नी का नाम काश्यपी था। उन दोनों के अग्निभूति और सोमभूति नाम के दो पुत्र थे। वे दोनों परदेश से विद्याध्ययन करके लौट रहे थे। मार्ग में उन्होंने एक जिनमती आर्यिका को अपने पुत्र जिनदत्त मुनि से कुशलक्षेम पूछते हुए देखा तथा एक सुभद्रा नाम की आर्यिका को अपने श्वसुर जिनभद्र मुनि से कुशलक्षेम पूछते हुए देखा। इस पर दोनों भाइयों ने उपहास किया। जवान की स्त्री बूढ़ी और बूढ़े की स्त्री जवान, विधाता ने अच्छा उलट-फेर किया है। उस समय इन दोनों भाइयों को निकाचितरूप

महापाप का बंध हो गया।

इस उज्जयिनी नगरी में एक सुदत्त नाम का सेठ था, जो कि सोलह करोड़ द्रव्य का धनी था। वहीं पर एक वसंतसेना वेश्या थी। सोमशर्मा ब्राह्मण मरकर उस वेश्या के गर्भ में कन्यारूप में उत्पन्न हुआ, जिसका नाम वसंततिलका रखा गया। सुदत्त सेठ ने इस वसंततिलका वेश्या को अपने घर में रख लिया। सेठ के संयोग से जब वह गर्भवती हुई, तब उनके अनेक रोग उत्पन्न हो गये। उस समय सेठ ने उसे घर से निकाल दी, वह वेश्या अपने घर आ गई। उसके गर्भ से युगलिया-बालक और बालिका उत्पन्न हुए। ये दोनों मुनि-आर्यिका का उपहास करने वाले अग्निभूति और सोमभूति के ही जीव थे, जो कि अपने पूर्वोपार्जित कर्म के अनुसार वेश्या की संतान हुए। वेश्या ने इन्हें अलग-अलग कम्बल में लपेटकर पुत्री को दक्षिण दिशा की ओर गली में और पुत्र को उत्तर की ओर गली में डाल दिया। प्रयोग के सुकेतु नामक व्यापारी ने कन्या को लेकर सुप्रभा भार्या को सौंप दिया, जिसका नाम कमला रखा गया। अयोध्या निवासी सुभद्र नामक व्यापारी ने पुत्र को पाया, उसे ले जाकर अपनी पत्नी सुव्रता को दिया जिसका नाम धनदेव रखा गया।

पूर्व जन्म के उपार्जित पापकर्म के उदय से ही इन दोनों का आपस में विवाह हो गया। एक बार धनदेव व्यापार के लिए उज्जयिनी गया, वहाँ वंसततिलका वेश्या से उसका संबंध हो गया। दोनों के संबंध से एक वरुण नाम का पुत्र पैदा हुआ, जो कि काश्यपी ब्राह्मणी का ही जीव था। एक बार कमला ने श्रीमुनिदत्त गुरु से अपने पूर्वभव पूछे। मुनिराज ने उपर्युक्तरूप से कमला के पूर्वभव की कथा सुनाई। सुनते ही कमला को जातिस्मरण हो गया।

जिनवाणी की कथा में लिखा है कि एक बार कमला ने एक अवधिज्ञानी मुनिराज का पड़गाहन किया, पड़गाहन के अनन्तर मुनिराज माथा धुन कर वापस चले गये, तब कमला ने मुनिराज के पास जाकर प्रश्न किया—भगवन्! आप घर से वापस क्यों आ गये? तब मुनिराज ने कहा कि तेरा ब्याह भाई के साथ हो गया है और तुम दोनों वेश्या की संतान हो। तुम्हारा पति आजकल उज्जयिनी में माता के साथ रमण कर रहा है, उसके फलस्वरूप तुम्हारी माँ को एक पुत्र हुआ है जिसका नाम वरुण है। मुनिराज के मुख से अपने पूर्वभवों को सुनकर कमला ने अणुव्रत लिए और पुनः उज्जयिनी जाकर वसंततिलका के घर में प्रवेश कर पालने में पड़े हुए वरुण को झुलाने लगी और कहने लगी—

1. हे बालक! मेरे पति का पुत्र होने से तू मेरा भी पुत्र है।

2. मेरे भाई धनदेव का पुत्र होने से तू मेरा भतीजा है।

3. तेरी और मेरी माता एक होने से तू मेरा भाई है।

4. धनदेव की माँ से जन्म लेने से अतः धनदेव का छोटा भाई होने से तू मेरा देवर है।

5. धनदेव मेरी माता वसंततिलका का पति है इसलिए धनदेव मेरा पिता है, उसका भाई होने से तू मेरा चाचा है।

6. मैं वेश्या वसंततिलका की सौत हूँ, अतः धनदेव मेरा पुत्र है, तू उसका पुत्र है अतः मेरा पोता है।

पुनः कमला ने धनदेव के विषय में छह नाते बताये–

1. धनदेव वसंततिलका का पति होने से मेरा पिता है।

2. तू (वरुण) मेरा काका है और धनदेव तेरा भी पिता है अतः वह मेरा दादा है।

3. तथा वह मेरा पति भी है।

4. उसकी और मेरी माता एक ही है अतः धनदेव मेरा भाई है।

5. मैं वेश्या वसंततिलका की सौत हूँ और उस वेश्या वसंततिलका का यह धनदेव पुत्र है अतः मेरा भी पुत्र है।

6. वेश्या मेरी सास है, मैं उसकी पुत्रवधू हूँ और धनदेव वेश्या का पति है अतः वह मेरा श्वसुर है।

पुनः कमला ने वसंततिलका के विषय में छह नाते बताये–

1. मेरे भाई धनदेव की पत्नी होने से यह वसंततिलका वेश्या मेरी भावज है।

2. तेरे-मेरे दोनों के धनदेव पिता हैं और वेश्या उनकी माता है अतः वह मेरी दादी है।

3. धनदेव की और तेरी माता होने से वह वेश्या मेरी भी माता है।

4. मेरे पति धनदेव की भार्या होने से वह मेरी सौत है।

5. धनदेव मेरी सौत का पुत्र होने से मेरा भी पुत्र कहलाया और धनदेव की पत्नी होने से वह वेश्या मेरी पुत्रवधू है।

6. मैं धनदेव की स्त्री हूँ और वह उसकी माता है, अतः मेरी सास है।

इन अट्ठारह नाते के विस्तार को सुनकर उस समय धनदेव और वसंततिलका आदि को जातिस्मरण हो गया। पूर्वभव का समस्त वृत्तान्त जान लेने से इन लोगों को अपने-अपने पापकृत्यों से अत्यन्त ग्लानि उत्पन्न हो गई और इन लोगों

ने अपने योग्य तप आदि ग्रहण कर स्वर्ग को प्राप्त किया।

देखो विजया! मुनि और आर्यिकाओं को अवर्णवाद लगाने से उसका फल कितना कटु मिला है? और भी सुनो।

एक ग्राम के उद्यान में सुदर्शन मुनिराज के पास उनकी बहन सुदर्शना आर्यिका बैठी थीं, मुनि उन्हें कुछ समझा रहे थे। एक वेदवती कन्या ने ग्राम में जाकर कहा कि "मैंने इन साधु को एकांत में एक सुन्दर स्त्री के साथ बैठे देखा है" इस बात को किन्हीं ने माना और किन्हीं ने नहीं माना। कुछ लोगों ने मुनि का अनादर किया, तब मुनि ने यह नियम किया कि मेरा अवर्णवाद दूर होने तक मेरा आहार का त्याग है, उस समय वनदेवता ने आकर ग्राम में सारी सही स्थिति बताकर मुनिराज का आरोप दूर किया, तब वेदवती ने भी मुनि से अपने अपराध की क्षमा कराकर प्रायश्चित किया किन्तु उसी पाप का फल उसे सीता की पर्याय में भोगना पड़ा है। उस प्रसंग में आचार्य कहते हैं कि–

[1]दृष्टः सत्योऽपि दोषो न वाच्यो जिनमतश्रिता।
उच्यमानेऽपि चान्येन, वार्यः सर्वप्रयत्नतः।।232।।
ब्रुवाणे लोकविद्वेषकरणं शासनाश्रितम्।
प्रतिपद्य चिरं दुःखं संसारमवगाहते।।233।।
सम्यग्दर्शनरत्नस्य गुणोऽत्यंतमयं महान्।
यद्दोषस्य कृतस्यापि प्रयत्नादुपगूहनम्।।234।।
अज्ञानान्मत्सराद्वापि दोषं वितथमेव तु।
प्रकाशयन् जनोऽत्यंतं जिनमार्गाद् बहिःस्थितः।।235।।

यदि किसी का यथार्थ दोष भी देखा हो, तो जिनमत के अवलम्बी को नहीं कहना चाहिए और दूसरा कोई कहता हो तो उसे सर्व प्रकार से रोकना चाहिए। फिर लोक में विद्वेष फैलाने वाले शासनसंबंधी दोषों को जो कहता है वह दुःखों को प्राप्त कर चिरकाल तक संसार में परिभ्रमण करता रहता है। किसी के द्वारा किये गये दोष को भी प्रयत्नपूर्वक छिपाना यह सम्यग्दर्शनरूपी रत्न का बहुत बड़ा गुण है। अज्ञान अथवा मत्सरभाव से जो किसी के मिथ्या दोष को प्रकाशित करता है, वह मनुष्य जिनमार्ग से बिल्कुल बाहर स्थित है। इस प्रकार श्रीसकलभूषणकेवली ने उपदेश दिया है।

विजया–इन कथाओं को सुनकर यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी को झूठे

1. पद्मपुराण पर्व, 106

दोष लगाने से महापाप ही पाप पल्ले पड़ता है न कि किंचित् लाभ तथा सच्चे भी दोष प्रगट नहीं करना चाहिए, यह श्री सकलभूषणकेवली भगवान का बहुत ही सुन्दर उपदेश है।

आर्यिका—हाँ विजया! इस तरह आपके घर में, या कहीं पर भी देखो सर्वत्र शान्ति का वातावरण रहेगा। दोषारोपण करने वाले व्यक्ति दूसरों पर कीचड़ उछालकर, कटु शब्द बोलकर केवल दूसरों को ही दुःखी नहीं करते हैं और परलोक में ही पापकर्म का संचय नहीं करते हैं किन्तु वर्तमान में भी वे आप स्वयं भी संक्लिष्ट रहते हैं, अनादर पाते हैं और सभी जनों की दृष्टि से गिर जाते हैं, उनके आत्मीयजन भी उन्हें शत्रु समझने लगते हैं तथा वे भविष्य में निकाचित कर्मों का बंध कर लेते हैं पर के ऊपर संदिग्ध दृष्टि रखने से, सतत दोषग्राही बने रहने से उनके पल्ले कुछ भी सुख और शान्ति नहीं पड़ती है अतः विजया! तुम इन्हीं उदाहरणों को सभी को सुनाओ, उनका भविष्य अच्छा होगा, तो वे लोग उभय लोग को सुखमय बनायेंगे। अन्यथा तुम अपनी सद्भावना कायम रखने की कोशिश करो और सम्यग्दर्शन के महत्त्व को समझो क्योंकि साधु-संघ आदि के अवर्णवाद से दर्शनमोहनीय कर्म का आस्रव होता है।

वास्तव में 'जैन' नाम से खोली गई शिक्षण संस्थाओं में यह हिंसामय बायलोजी शिक्षण नहीं होना चाहिए। अरे! आटे का मुर्गा बनाकर बलि करने वाले यशोधर राजा ने दस भवों तक जो दुःख भोगे हैं, वह कथा पढ़कर हर किसी को सोचना चाहिए कि भले ही इन मेंढकों के मारने में डाक्टरी सीखकर, आगे हजारों रोगियों का आपरेशन कर उन्हें जीवनदान देंगे किन्तु हजारों जीवनदान के पुण्य से एक जीव का बुद्धिपूर्वक घात करना, उस पुण्य से अधिक गुणा बड़ा महापाप है।''

(मेरी स्मृतियाँ, पेज-२३२)

स्वसमय और परसमय

त्रिशला—जीजी! आज तुमने जो आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी के द्वारा किये गये समयसार के उपदेश में स्वसमय-परसमय का विवेचन सुना है, उसे हमें एक बार पुनः समझाओ?

मालती—सुनो! मैं विस्तृत विवेचन के साथ तुम्हें समझाती हूँ।

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिउ तं हि ससमयंजाण।
पुग्गलकम्म पदेशट्ठियं च तं जाण परसमयं।।

अर्थात् जो जीव दर्शन, ज्ञान और चारित्र में स्थित रहा है, हे शिष्य! उसे तुम निश्चय से स्वसमय जानो और जो जीव पुद्गल कर्म के प्रदेशों में स्थित है, उसे तुम परसमय जानो।''

तात्पर्यवृत्ति नाम की टीका में श्री जयसेनाचार्य ने पहले जीव का लक्षण बतलाया है कि जो शुद्धनिश्चयनय से शुद्ध-बुद्ध एक स्वभावरूप निश्चयप्राण के द्वारा उसी प्रकार अशुद्धनिश्चयनय से क्षायोपशमिक (मति, श्रुतज्ञान, चक्षु, अचक्षुदर्शनरूप) अशुद्ध भाव प्राणों के द्वारा और असद्भूतव्यवहारनय की अपेक्षा से यथासंभव द्रव्य प्राणों से जीता है, जीवेगा और भूतकाल में जीता था, वह जीव कहलाता है। इस कथन की दृष्टि से देखा जाये, तो सभी जीव शुद्धनिश्चयनय से शुद्ध, बुद्ध एक चैतन्यस्वरूप ही हैं। चाहे वे एकेन्द्रिय हों या अभव्यजीव हों।

त्रिशला—तो क्या मेरी आत्मा भी शुद्ध है?

मालती—हाँ! अवश्य, हमारी-तुम्हारी सभी की आत्माएँ शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध ही हैं, इसमें कोई भी संदेह नहीं है।

यही जीव जब मुनि अवस्था में पहुँचकर ध्यान में स्थित होता है, उस समय विशुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वभाव वाले अपनी परमात्मा में जो रुचि है, वह सम्यग्दर्शन है, उसी निज परमात्मा में जो रागादि स्वसंवेदन ज्ञान है, वही सम्यग्ज्ञान है, तथैव उसी निज परमात्मा में निश्चल अनुभूतिरूप जो अवस्था है, वही वीतराग चारित्र है। इन उपर्युक्त लक्षण वाले निश्चयरत्नत्रय अथवा अभेदरत्नत्रय के द्वारा परिणत हुए जीव पदार्थ को हे शिष्य! तुम स्वसमय जानो और जो कर्मोदय से जनित नर-नारकादि अवस्थाएँ हैं, पूर्वोक्त निश्चयरत्नत्रय के अभाव से जब जीव उसमें स्थित रहता है, तब उसे परसमय जानो। इसका निष्कर्ष यह निकला कि चतुर्थ, पंचम और छठे गुणस्थानवर्ती मुनि भी निश्चयरत्नत्रय में स्थित नहीं हैं अतः वे

परसमय ही हैं किन्तु सातवें गुणस्थान से लेकर आगे के जीव जब वीतराग निर्विकल्प ध्यान में स्थित होते हैं, तभी वे स्वसमयरूप कहलाते हैं।

श्री अमृतचन्द्रसूरि ने भी अपनी आत्मख्याति नाम की टीका में कहा है कि 'जब यह जीव केवलज्ञान को उत्पन्न करने वाली भेदज्ञान ज्योति के उदित होने से परद्रव्यों से पृथक् होकर दर्शन-ज्ञान स्वभाव में निश्चित प्रवृत्ति करता है, तब दर्शन, ज्ञान, चारित्र में स्थिर होने में अपने स्वरूप को एकत्वरूप से एक काल में जानता हुआ परिणमन करता हुआ स्वसमय कहलाता है और जब अनादि-अविद्यारूप मोह के उदय के अनुसार प्रवृत्ति की आधीनता से दर्शन, ज्ञान स्वभाव में निश्चित वृत्तिरूप आत्मस्वरूप से छूटकर परद्रव्य के निमित्त से उत्पन्न हुए मोह, राग, द्वेषादि भावों में एकरूप हो प्रवृत्त होता है, तब पुद्गल के कार्मण प्रदेशों में स्थित होने से परद्रव्य को अपने से अभिन्नरूप एक काल में जानता है तथा रागादिरूप परिणमन करता है, तब वह परसमय कहलाता है।

रत्नत्रय में स्थिर होकर स्वरूप को एक काल में जानना, उसरूप परिणत होना, यह अवस्था चतुर्थ, पंचम या छठे गुणस्थान में असंभव है, बल्कि वीतराग निर्विकल्प समाधिरूप ध्यान में ही संभव है। सार बात यह है कि जब यह जीव अपने स्वभाव में स्थित होता है, तब स्वसमय और जब राग-द्वेष-मोहरूप परिणत होता है, तब वह परसमय है।

इसके अतिरिक्त रयणसार में स्वयं ही भगवान श्री कुन्दकुन्ददेव ने तो स्वसमय को और भी उच्च अवस्था में घटित किया है। देखिए–

बहिरंतरप्पभेयं परसमयं भण्णये जिणिदेहिं।
परमप्पा सगसमयं तब्भेयं जाण गुणट्ठाणे।।128।।
मिस्सोत्ति बाहिरप्पा तरतमया तुरिय अंतरप्पा जहण्णा।
सत्तोत्तिमज्झिमंतर रवीणुत्तर परमजिणसिद्धा।।129।।

(रयणसार)

अर्थ–बहिरात्मा और अन्तरात्मा के जो भेद हैं, वे परसमय हैं, ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है और जो परमात्मा हैं, वे स्वसमय हैं। अब इनके भेदों को गुणस्थानों में समझो।

मिथ्यात्व, सासादन और मिश्रगुणस्थानवर्ती जीव तरतमता से बहिरात्मा हैं। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव जघन्य अन्तरात्मा हैं, पंचम गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक मध्यम अंतरात्मा हैं और क्षीणकषाय नामक बारहवें

गुणस्थानवर्ती जीव उत्तम अंतरात्मा हैं। अरिहंत और सिद्ध अर्थात् तेरहवें, चौदहवें गुणस्थानवर्ती जीव और सिद्ध भगवान परमात्मा हैं।

इनके कथन से अरिहंत और सिद्ध परमात्मा ही स्वसमय हैं बाकी बारहवें गुणस्थान तक सभी जीव परसमय ही हैं। यही बात नियमसार में भी टीकाकार श्री पद्मप्रभमलधारी मुनिराज ने स्पष्ट की है जो कि "मार्गप्रकाश" ग्रंथ का उद्धरण है।

उक्तं च मार्गप्रकाशे–

वहिरात्मान्तरात्मेति स्यादन्य समयो द्विधा।
बहिरात्मानयोर्देहकरणाद्युदितात्मधीः ।।
जघन्यमध्यमोत्कृष्ट भेदादविरतः सुदृक्।
प्रथमः क्षीणमोहोन्त्यो मध्यमो मध्यमस्तयोः।।

अर्थ–अन्य समय–परसमय जीव बहिरात्मा और अंतरात्मा इस प्रकार से दो प्रकार के हैं, इनमें शरीर और इन्द्रिय आदि में जिसकी आत्मबुद्धि हो रही है वह बहिरात्मा हैं। अन्तरात्मा के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट ऐसे तीन भेद हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि जघन्य अन्तरात्मा हैं एवं पाँचवें से ग्यारहवें तक मध्यम अन्तरात्मा हैं। सारांश यह है कि इन बहिरात्मा, अन्तरात्मा से भिन्न जो परमात्मा हैं वे स्वसमय हैं।

त्रिशला–और जो अष्टसहस्री ग्रंथ में स्वसमय-परसमय का कथन है, वह क्या है?

मालती–हाँ, वहाँ जो कहा है–

श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः, किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः।
विज्ञायेत ययैव स्वसमय परसमयसद्भावः।।

अर्थ–एक अष्टसहस्री ग्रंथ को ही सुनना चाहिए, अन्य सहस्रों शास्त्रों के सुनने के क्या प्रयोजन हैं? क्योंकि इस अष्टसहस्री ग्रंथ के द्वारा ही स्वसमय और परसमय का सद्भाव जान लिया जाता है। यहाँ पर जो स्वसमय है उसका अर्थ है जैनों का स्याद्वाद-सिद्धान्त और परसमय से नास्तिकवादी, बौद्ध, सांख्य, मीमांसक तथा नैयायिक आदि के सिद्धांत ग्रहण किये गये हैं। इन स्वसिद्धान्त और परसिद्धान्तों का भली प्रकार से ज्ञान अष्टसहस्री जैसे न्याय ग्रंथों से ही होता है और तभी सम्यक्त्व दृढ़ होता है।

त्रिशला–इस समयसार से स्वसमय को जानकर क्या करना चाहिए?

जब कि आज के युग में यह अवस्था दुर्लभ है!

मालती—ऐसी बात नहीं है, इसको जानकर इस स्वसमय पर दृढ़ श्रद्धान करना चाहिए? और 'मैं कब इस अवस्था को प्राप्त करूँगी?' ऐसा सोचते हुए उस स्वसमयरूप परिणत हुए, ऐसे अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पाँच परमेष्ठी का ध्यान, चिन्तन, मनन, पूजन, आराधन आदि करना चाहिए–

कम से कम चौबीस घंटों में से 25 मिनट भी अपने लिए निकालकर एकान्त में बैठकर चिंतवन करना चाहिए–

"ज्ञानावरणकर्मरहितोऽहं, दर्शनावरणकर्मरहितोऽहं, वेदनीयकर्मरहितोऽहं, मोहकर्मरहितोऽहं, आयुकर्मरहितोऽहं, नामकर्मरहितोऽहं, गोत्रकर्मरहितोऽहं, अन्तरायकर्मरहितोऽहं, अष्टकर्मरहितोऽहं, भावकर्मरहितोऽहं, नोकर्म रहितोऽहं, परमानन्दस्वरूपोऽहं, परमाह्लादस्वरूपोऽहं, परमज्योतिः स्वरूपोऽहं, परमचिन्मयोऽहं। इत्यादि रूप से अपने शुद्धस्वरूप की भावना करते हुए क्षणभर उसमें स्थिर होने का अभ्यास करना चाहिए अथवा हृदय में एक कमल की कर्णिका पर "अ" ललाट में कमल की कर्णिता पर "सि" दाहिनी भुजा में कमल की कर्णिका पर "आ" शरीर के मध्य में विद्यमान नाभि में "उ" और बायीं भुजा की कमल की कर्णिका पर "सा" ऐसा चिंतवन करते हुए उस पर कुछ क्षण तक मन टिकाना चाहिए। ये 'अ सि आ उ सा' बीजाक्षर पंच परमेष्ठी के प्रथम-प्रथम अक्षर हैं, इनका ध्यान अथवा जाप्य महान पुण्य देने वाला है और अनन्त पापों का नाश करने वाला है।

इस प्रकार से स्वसमय में स्थित हुए की आराधना करते-करते एक दिन हमें भी वैसी योग्यता अवश्य ही प्राप्त होगी, ऐसा दृढ़ विश्वास रखना चाहिए। यही आज के उपदेश में हमने विस्तार से सुना है और "समय" शब्द का अर्थ तो पहले ही बताया गया था कि सम्–सम्यक् अय–ज्ञान जिसका है वह आत्मा समय कहलाता है। निश्चयनय से हमारी आत्मा पूर्ण केवलज्ञानस्वरूप है और व्यवहारनय से संसारी होने से अल्पज्ञ है किन्तु ज्ञानगुण का कुछ न कुछ अंश उसमें अवश्य है, जो कि क्षायोपशमिकरूप है।

त्रिशला—ठीक है, अब मैं स्वसमय को प्राप्त करने के लिए इन पाँचों परमेष्ठी के बीजाक्षरों का ध्यान अथवा चिंतवन अवश्य ही करूँगी।

जीव दया परम धर्म है

शुभा—माताजी! अब की महावीर जयन्ती के समय एक विद्वान् के उपदेश में मैंने सुना है कि दया, दान, पूजा, भक्ति करते-करते, करते-करते अनन्तकाल निकल गया किन्तु इस जीव का कल्याण नहीं हुआ और न ही होने का, क्योंकि ये दया, दान आदि कार्य धर्म नहीं है। उपदेश के बाद बाहर निकलकर कुछ लोगों में आपस में फुसफुसाहट चल रही थी और कुछ लोग आपस में ही एक-दूसरे से उखड़ रहे थे। सो क्या कारण है आप मुझे समझाइये?

माताजी—शुभा! तुम जैसी बालिकाएँ अभी सैद्धान्तिक ज्ञान से बहुत दूर हैं, ये तो सब विद्वानों की चर्चाएँ हैं। तुम लोग अपने ज्ञान को परिपक्व बनाने के लिए पहले प्रारंभ से ही जैनधर्म की पुस्तकों का अध्ययन करो। बाल विकास पढ़ो, प्रद्युम्न-चरित्र, जम्बूस्वामी चरित्र, धन्यकुमार चरित्र, रत्नकरण्डश्रावकाचार, द्रव्यसंग्रह और तत्त्वार्थसूत्र आदि पढ़ो पुनः इस उपर्युक्त शंकाओं का समाधान तुम्हें सहज ही मिल जायेगा।

सरिता—नहीं माताजी! मुझे आज ही समझाओ कि दया धर्म है या नहीं?

माताजी—बेटी सरिता! श्री गौतम स्वामी द्वारा रचित जिस यतिप्रतिक्रमण का पाठ साधुवर्ग हर पन्द्रह दिनों में करते हैं, उसमें स्पष्ट कहा है कि–

"सुदं मे आउस्संतो! इह खलु समणेण भयवदा महदिमहावीरेण-समणाणं पंचमहव्वदाणि-सम्मं धम्मं उवदेसिदाणि। तं जहा-पढमे महव्वदे पाणादिवादादो वेरमणं.....।"

हे आयुष्मन्त भव्यों! मैंने (गौतम स्वामी ने) इस भरत क्षेत्र में होने वाले श्रमण भगवान महावीर की दिव्यध्वनि में सुना है कि पाँच महाव्रत आदि श्रमणों के लिए समीचीन धर्म है, उनका उन्होंने उपदेश दिया है। उसमें सर्वप्रथम प्राणी हिंसा से विरत होना यह अहिंसा महाव्रत है।

उसी प्रकार से श्रावक और क्षुल्लक (ऐलक) तक के उपासकों के लिए भी कहा है कि–

सुदं मे आउस्संतो! इह खलु समणेण भयवदा महदिमहावीरेण सावयाणं सावियाणं खुड्डयाणं खुड्डियाणं कारणेणं पंचाणुव्वदाणि तिण्णि गुणव्वदाणि चत्तारि सिक्खावदाणि वारसविहं गिहत्थधम्मं सम्मं उवदेसदाणि।

हे आयुष्मंत भव्यों! मैंने (गौतम ने) श्रमण भगवान् महति महावीर के द्वारा

उपदिष्ट गृहस्थ धर्म को सुना है जो कि पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत हैं और श्रावक-श्राविकाओं तथा क्षुल्लक-क्षुल्लिकाओं के लिए कहा गया है।

इन पाँच अणुव्रत आदि धर्मों में सर्वप्रथम अहिंसा अणुव्रत है जो कि दया ही है पुनः चार शिक्षाव्रत में जो अतिथि संविभागव्रत है, वह चार प्रकार के दानरूप है तथा सामायिकव्रत में अरहंत, सिद्ध, आचार्य आदि नव देवताओं की भक्ति का ही विधान है। सामायिक और अतिथि संविभाग व्रतों में ही जिनपूजा एवं गुरुपूजा का, उनकी भक्ति का विधान है पुनः ये दया, दान, पूजा और भक्ति धर्म क्यों नहीं हैं? अवश्य हैं पुनश्च–

''अहिंसा परमो धर्मः यतो धर्मस्ततो जयः।''

ये पंक्तियाँ भी आचार्यों की ही हैं, तो फिर दया को धर्म न कहना ये कहाँ की बुद्धिमानी है?

ऐसे ही श्री कुन्दकुन्ददेव ने चारित्रपाहुड़ में कहा है कि–

एवं सावयधम्मं संजमचरणं उदेसियं सयलं।
सुद्धं संजमचरणं जइधम्मं णिक्कलं वोच्छे।।

पाँच अणुव्रत आदि बारहव्रतों का वर्णन करके कहते हैं कि इस प्रकार से श्रावकधर्मस्वरूप श्रावक आचरण तो कहा, यह कला सहित अर्थात् एकदेश है अब निष्कल अर्थात् परिपूर्ण यतिधर्मरूप संयमचरण को कहूँगा।

पुनश्च–

धम्मो दयाविसुद्धो, पव्वज्जा सव्वसंगपरिचत्ता।
देवो ववगय मोहो, उदयकरो भव्वजीवाणं।।

दया से विशुद्ध धर्म, सर्वपरिग्रह रहित दीक्षा और मोहादि दोष रहित देव ये तीनों भव्य जीवों के उदय को करने वाले हैं।

ये तो मैंने तुम्हें सिर्फ श्री गौतम स्वामी और कुंदकुंददेव के दो-चार वाक्य दिखलाये हैं, ऐसे हजारों वाक्य जैन ग्रंथों में भरे पड़े हैं।

दया के उदाहरण में श्री जीवंधरस्वामी का उदाहरण तुम्हें बहुत बढ़िया लगेगा।

सरिता–माताजी! उसे भी सुना दीजिए।

माताजी–किसी समय एक तपस्वी महात्मा भूख से पीड़ित हुए नगर के निकटवर्ती एक बगीचे में पहुँचे। वहाँ पर बहुत से बच्चे खेल रहे थे, उन सभी मेंएक बालक सभी बालकों में अधिक तेजस्वी दिख रहा था। साधु ने उससे पूछा–

''नगर कितनी दूर है?'' बालक ने कहा–

''बालकों की क्रीड़ा को देखकर कौन ऐसा वृद्ध है जो कि अनुमान न लगा ले कि नगर इस बगीचे के निकट ही है? अरे! धुएँ को देखकर कौन पुरुष अग्नि का अनुमान नहीं लगाता है और ठंडी वायु के आने पर कौन यह नहीं जान लेता कि कहीं पर जल वर्षा हुई है।''

इत्यादि मधुर वचनों से और उसके सुन्दर रूप से साधु ने यह समझ लिया कि यह कोई होनहार महापुरुष है और बालक ने भी साधु के शरीर को देखकर यह समझ लिया कि इन महात्मा को भोजन कराना चाहिए अतः वे उन महात्मा को साथ लेकर घर आ पहुँचे और अपने रसोइये को बोले कि ''इन्हें भोजन करा दीजिए।'' रसोइये ने एक तरफ साधु के लिए आसन लगा दिया और सामने ही एक तरफ उस बालक के लिए भी भोजन परोस दिया।

उस समय उस रसोइये ने घर में पाँच सौ बालकों के लिए और बहुत से लोगों के लिए भोजन बनाया हुआ था, सो रसोइया तो साधु को परोसता गया और साधु भोजन करता ही चला गया। वह बालक बड़े आश्चर्य से उस साधु को देख रहा था और उसके हृदय में करुणासागर उमड़ता ही चला आ रहा है अतः उसने स्वयं भोजन करना शुरू नहीं किया। मात्र वह अतिशय करुणा से एकटक उस साधु को देखता ही रह गया। ''हाँ! उस समय यदि और कोई साधारण बालक होता तो यह तो उसकी इस क्षुधा को देखकर हँसने लगता या गुस्सा करने लगा कि आखिर हम सभी लोग क्या खायेंगे?'' किन्तु वह बालक अन्त में अपने हाथ में लिए हुए चावल के ग्रास को, जिसे कि अभी मुँह में नहीं रखा था, बस वह देखने में ही स्वयं खाना भूल ही गया था, उस ग्रास को बहुत ही आदर के साथ उस महात्मा को दे दिया। महात्मा ने जैसे ही उस एक ग्रास चावल को खाया कि उसका पेट उसी क्षण भर गया। उसी क्षण साधु को परम तृप्ति हो गई और तब वह साधु अपनी पहले की प्रवृत्ति से अत्यधिक लज्जा को प्राप्त हुआ।''

श्री वादीभसूरि कहते हैं कि उस समय साधु की बीमारी के क्षय का समय आ पहुँचा था, अथवा उनकी दया का माहात्म्य था अथवा वह कार्य ही वैसा होने वाला था कि जिससे जीवंधर कुमार के हाथ के एक ग्रास के खाने से ही साधु की भस्मक व्याधि शान्त हो गई।''

शुभा–माताजी! उस साधु के यदि असाता कर्म का उदय शांत न होता, तो उस जीवंधर जी की दया से और उनके द्वारा दिये गये ग्रास से रोग कैसे शांतहोता?

माताजी—यह सर्वथा एकांत नहीं है, यद्यपि रोग के क्षय में अन्तरंग कारण कर्मों की मंदता है फिर भी बहिरंग कारण तो औषधि या बाह्य वस्तुएँ ही हुआकरती हैं अतः यहाँ पर जीवंधर की दया को बलवान बहिरंग कारण मानना ही पड़ेगा।

जीवंधर स्वामी के जीवन की एक और घटना है, उसे सुनो।

किसी समय जीवंधर कुमार एक वन से निकले। उस समय वहाँ भयंकर अग्नि लग रही थी। तमाम हाथी आदि प्राणी झुलस रहे थे, तमाम पशु-पक्षी इधर-उधर भाग रहे थे। उन हाथी आदि जीवों को देखकर उनका हृदय दया के अधीन हो गया, उन्हें इतना दुःख हुआ कि मानों वह उपद्रव उनके शरीर पर ही हो रहा हो। उस समय उन्होंने उस उपद्रव को दूर करने के लिए हृदय में श्री जिनेन्द्रदेव के चरणों को विराजमान करके क्षण भर खड़े होकर ध्यान किया कि तत्क्षण ही आकाश में मेघों की गर्जना शुरू हो गई और मूसलाधार पानी बरसने लगा। यह उस समय जीवंधर की करुणा का ही प्रभाव था अथवा करुणा बुद्धि से रक्षा हेतु किया गया जिनेन्द्रदेव का जो स्मरण था, उसी का ही वह प्रभाव था।

ऐसे ही एक समय जीवंधर कुमार वनक्रीड़ा के लिए गये थे। वहाँ पर मरणासन्न कुत्ते को देखकर अपार दया के सागर ने उनके कान में पंच नमस्कार मंत्र सुनाया। यद्यपि वह कुत्ता उस समय उस महामंत्र को कान से ही सुन रहा था, मन से नहीं, तो भी उसका कुछ क्लेश कम हो गया और मंत्र सुनते-सुनते उसके प्राण निकल गये। मरकर के वह कुत्ता उस मंत्र के प्रभाव से देवपर्याय में सुदर्शन नाम का यक्षपति हो गया। इस यक्षेन्द्र ने जीवन भर जीवंधर का उपकार करके अपनी कृतज्ञता व्यक्त की है।

निष्कर्ष यह निकला कि जब तद्भव मोक्षगामी ऐसे जीवंधर स्वामी ने भी इस प्रकार से दया को धर्म माना था और महामुनि भी अपनी सारी प्रवृत्ति दया धर्म को पूर्णतया पालन करने के लिए ही संयमित रखते हैं पुनः हम और आप जैसे लोगों के लिए तो यह दया ही परमधर्म है और उसका यथाशक्ति पालन करना भी परम कर्तव्य है।

सरिता—इस दया धर्म को पालन करने के लिए हमें क्या करना चाहिए?

माताजी—तुम्हें सर्वप्रथम अष्ट मूलगुण धारण करना चाहिए।

सरिता—वह कौन-कौन हैं?

माताजी—मद्य, माँस और मधु का त्याग, पाँच उदुम्बर फलों का त्याग, रात्रि में भोजन का त्याग, जल छानकर पीना, किसी जीव की हिंसा नहीं करना

और देवदर्शन करना ये आठ मूलगुण हैं।

शुभा—आजकल कुछ लोग रात्रि में अन्न नहीं खाते हैं, किन्तु कलाकन्द, आलू की टिकिया आदि खाते हैं सो यह क्या है?

माताजी—बात यह है कि रात्रि में खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय इन चारों प्रकार के आहारों का त्याग करना उत्तम मार्ग है किन्तु यदि आप सभी कुछ नहीं छोड़ सकते तो जितना भी छोड़ दो, उतना ही अच्छा है। कुछ मर्यादा तो बनेगी, धीरे-धीरे तुम्हारी सब कुछ छोड़ने की भावना बन जायेगी, किन्तु आलू आदि जमीकंद पदार्थ तो सर्वथा ही अभक्ष्य हैं, इनका त्याग करना ही उत्तम है।

शुभा—अभी हमें आप रात्रि में मात्र अनाज की वस्तु का ही त्याग दे दीजिए और बाकी के सभी मूलगुण दे दीजिए।

सरिता—हाँ! मुझे भी इन आठ मूलगुणों को दे दीजिए।

माताजी—(व्रतों को विधिवत् देकर) अच्छा, इन व्रतों को लेकर ही आज तुम भाव से जैन बनी हो, अभी तक मात्र नाम से या द्रव्य से जैन थी।

शुभा—आज मेरा जीवन पवित्र हो गया है, जो कि मैंने इन व्रतों को गुरु के द्वारा ग्रहण किया है।

शरद—चलो बहन! अब घर चलें, कल फिर अपन माताजी से कुछ विशेष चर्चा करेंगे।

त्याग-तपस्या की मूरत तुम, ज्ञान-ध्यान की प्रतिमा हो।
कलियुग की सुकुमार तपस्वी, नारी की गुणगरिमा हो।।
ब्राह्मी माँ के पद चिन्हों पर, चलकर लुटा रहीं चंदन।
गणिनी माता ज्ञानमती जी, स्वीकारो मेरा वंदन।।

—आर्यिका चंदनामती

ऐतिहासिक आर्यिकाएँ

इस युग में चतुर्थ काल प्रारंभ होने के पहले ही भगवान ऋषभदेव को केवलज्ञान होने के बाद ही उनके ही पुत्र वृषभसेन, जो कि पुरिमताल नगर के राजा थे, वे प्रभु से मुनि दीक्षा लेकर भगवान के प्रथम गणधर हो गये तथा भगवान की ही पुत्री[1] ब्राह्मी, जो कि भरत चक्री की छोटी बहन थी, वह भी विरक्त होकर गुरुदेव की कृपा से दीक्षित होकर आर्यिका हो गई और बाहुबली की छोटी बहन सुन्दरी भी आर्यिका हो गई। ये ब्राह्मी समस्त आर्याओं में गणिनी- स्वामिनी थीं। अन्यत्र[2] भी कहा है– धैर्य से युक्त[3] ब्राह्मी और सुन्दरी नामक दोनों कुमारियाँ अनेक स्त्रियों के साथ दीक्षा ले आर्यिकाओं की स्वामिनी बन गईं।

भरत के सेनापति जयकुमार की दीक्षा के बाद सुलोचना[4] ने भी ब्राह्मी आर्यिका के पास दीक्षा धारण कर ली। अन्यत्र[5] भी कहा है–

दुष्ट संसार के स्वभाव को जानने वाली सुलोचना ने अपनी सपत्नियों के साथ श्वेत साड़ी धारणकर ब्राह्मी तथा सुन्दरी के पास दीक्षा धारण कर ली। मेघेश्वर जयकुमार शीघ्र ही द्वादशांग के पाठी होकर भगवान के गणधर हो गये और सुलोचना आर्यिका भी ग्यारह अंगों की धारक हो गई।

आर्यिकाओं या गणिनी से दीक्षा लेने के विषय में और भी अनेकों प्रमाण हैं–

कवेरमित्र[6] की स्त्री धनवती ने स्वामिनी अमितमती के पास दीक्षा धारण कर ली और उन यशस्वती और गुणवती आर्यिकाओं की माता कुबेरसेना ने भी अपनी पुत्री के समीप दीक्षा ले ली।''

वनवास के प्रसंग में जब मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र ने यह सुना कि कलिंगाधिपति अतिवीर्य राजा भरत के राज्य पर चढ़ाई करने वाला है, तब अतिवीर्य को पराजित करने का उपाय सोचा–

1. आदिपुराण, पृ. 592। 2. हरिवंशपुराण, पृ. 183। 3. इसके बारे में जो यह किंवदन्ती है कि पिताजी ऋषभदेव इनका विवाह करते, तो उन्हें उन जामाताओं को नमस्कार करना पड़ता, इसलिए उन्होंने ब्याह नहीं किया अर्थात् वे प्रभु की इस चिन्ता को दूर करने के लिए बाल ब्रह्मचारिणी रहीं। यह कल्पना बिल्कुल गलत है। भरत चक्री ने हजारों कन्याओं को विवाहा था। तब क्या उनके पिता ने अपने समधी को नमस्कार किया था या अपनी हजारों कन्याओं के पतियों को भी क्या नमस्कार किया था अर्थात् नहीं किया था। 4. आदिपुराण, द्वितीय भाग, पृ. 503। 5. हरिवंशपुराण, पृ. 213। 6. आदिपुराण, पृ. 458।

दूसरे[1] दिन डेरे से निकलकर राम ने आर्यिकाओं से सहित जिनमंदिर देखा, सो हाथ जोड़कर बड़ी भक्ति से उसमें प्रवेश किया। वहाँ जिनेन्द्र भगवान को तथा आर्यिकाओं को नमस्कार किया, वहाँ आर्यिकाओं की जो वरधर्मा नाम की गणिनी थीं, उनके पास सीता को रखा तथा सीता के पास ही अपने सब शस्त्र छोड़े।

वेष बदलकर श्रीराम और लक्ष्मण दोनों ही अतिवीर्य की सभा में पहुँचकर उसे पकड़कर हाथी पर सवार हो अपने परिजन के साथ वापस जिनमंदिर में आ गये। वहाँ हाथी से उतरकर मंदिर में प्रवेश कर जिनेन्द्र भगावन की बड़ी भारी पूजा की। मंदिर में सर्वसंघ के साथ जो वरधर्मा नाम की गणिनी ठहरी हुई थीं, रामचन्द्र ने सीता के साथ संतुष्ट होकर उनकी भी पूजा की।

इस उदाहरण से यह स्पष्ट होता है कि पूर्व काल में भी आर्यिकाएँ जिनमंदिर में रहती थीं और बलभद्र, नारायण आदि महापुरुष उनकी वंदना-पूजा किया करते थे।

''रावण के मरण के बाद मन्दोदरी[2] ने शशिकान्त आर्यिका के मनोहारी वचनों से प्रबोध को प्राप्त हो उत्कृष्ट संवेग और उत्तम गुणों को प्राप्त हुई गृहस्थ वेष-भूषा को छोड़कर श्वेत साड़ी से आवृत्त हुई आर्यिका हो गई। उस समय अड़तालीस हजार स्त्रियों ने संयम धारण किया था। इन्हीं में रावण की बहन, जो कि खरदूषण की पत्नी थी, उस चन्द्रनखा ने भी दीक्षा ले ली थी।

माता कैकयी भरत की दीक्षा के बाद विरक्त हो एक सफेद[3] साड़ी से युक्त होकर तीन सौ स्त्रियों के साथ ''पृथिवीमति'' आर्यिका के पासदीक्षित हो गई थीं।''

अग्नि परीक्षा के बाद श्री रामचन्द्र ने सीता को घर चलने के लिए कहा, तब सीता ने कहा कि अब मैं जैनेश्वरी दीक्षा धारण करूँगी'' वहीं केशलोंच करके पुनः शीघ्र ही पृथिवीमती आर्यिका के पास दीक्षित हो गईं।''

उनके बारे में लिखा है कि वह वस्त्रमात्र परिग्रहधारिणी, महाव्रतों से पवित्र अंगवाली महासंवेग को प्राप्त[4] थीं।

हनुमान विरक्त होकर धर्मरत्न[5] मुनिराज के समीप मुनि हो गये, तब उनके साथ सात सौ पचास विद्याधर राजाओं ने भी दीक्षा ले ली।

1. पद्मपुराण, द्वितीय भाग, पृ. 261। 2. पद्मपुराण, तृतीय भाग, पृ. 71। 3. पद्मपुराण तृतीय भाग, पृ. 151। 4. पद्मपुराण तृतीय भाग, पृ. 284। 5. पद्मपुराण तृतीय भाग, पृ. 362।

उसी समय शीलरूपी आभूषणों को धारण करने वाली राजस्त्रियों ने बंधुमती आर्यिका के पास दीक्षा ले ली।

मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र ने श्रीसुव्रत मुनिराज से दीक्षा धारण की थी, उस समय कुछ अधिक सोलह हजार साधु हुए और सत्ताईस हजार स्त्रियाँ ''श्रीमती'' नामक आर्यिका के पास आर्यिका[1] हुईं।

सीता[2] के आर्यिका जीवन का वर्णन करते हुए ग्रंथकार कहते हैं कि धूलि से मलिन वस्त्र से जिनका वक्षस्थल तथा शिर के बाल सदा आच्छादित रहते थे, जो स्नान के अभाव में पसीना से उत्पन्न मैलरूपी कंचुक को धारण कर रही थी, जो चार दिन, पक्ष आदि के उपवास करती थी, शीलव्रत और मूलगुणों के पालन में तत्पर-अध्यात्म के चिंतन में लीन रहती थी, विहार के समय उसे अपने और पराये लोग भी नहीं पहचान पाते थे, इस प्रकार बासठ वर्ष तक उत्कृष्ट तप करके तथा पैंतीस दिन की उत्तम सल्लेखना धारण करके वह आर्यिका सीता इस शरीर को छोड़कर आरण-अच्युत युगल के प्रतीन्द्र पद को प्राप्त हो गई अर्थात् स्त्रीलिंग को छोड़कर प्रतीन्द्र हो गई।

किसी समय कनकोदरी[3] महादेवी पट्टरानी ने अभिमानवश सौत के प्रति क्रोध करने से गृह चैत्यालय की जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा को घर से बाहर फिकवा दिया था, इसी बीच में संयमश्री नामक आर्यिका ने आहार के लिए इसके घर में प्रवेश किया। संसार में प्रसिद्ध महातपस्विनी संयमश्री ने जिनेन्द्र की प्रतिमा का अनादर देखकर दुःखी होकर आहार का त्याग कर दिया और कनकोदरी को उपदेश देना शुरू किया तथा कहा कि यदि मैं तुझे न सम्बोधन करूँ तो मुझे भी प्रमाद का बहुत बड़ा दोष होगा। तूने नरक-निगोदों में निवास कराने वाला ऐसा महापाप किया, अब उससे विरत हो।' इत्यादि उपदेश सुनकर कनकोदरी संसार के दुःखों से डर गयी और आर्यिकाश्री से सम्यक्त्व और श्रावक के व्रत ले लिये। प्रतिमा जी को पूर्व स्थान में विराजमान करके नाना प्रकार से उसकी पूजा करके प्रायश्चित्त आदि किया। कालांतर में वही अंजना हुई, तब उसी पाप के फल से उसे बाईस वर्ष तक पति का वियोग सहना पड़ा था।''

भगवान नेमिनाथ को केवलज्ञान होने के बाद समवसरण रचना हो गई।

---

1. पद्मपुराण तृतीय भाग, पृ. 395। 2. पद्मपुराण तृतीय भाग, श्लोक 8 से 18, पृ. 328। 3. पद्मपुराण तृतीय भाग, 168 से 198, पृ. 383।

उस समय राजा वरदत्त ने प्रभु से दीक्षा लेकर गणधर पद प्राप्त किया और राजीमती[1] भी छह हजार रानियों के साथ दीक्षा लेकर आर्यिकाओं में प्रधान गणिनी हो गईं।

राजा चेटक की पुत्री चन्दना कुमारी[2] एक स्वच्छ वस्त्र धारणकर (भगवान महावीर के समवसरण में) आर्यिकाओं में प्रमुख हो गईं।

रानी चेलना[3] राजा श्रेणिक की मृत्यु के बाद भगवान के समवसरण में चन्दना गणिनी के पास जाकर दीक्षित हो गईं, जो कि चन्दना की बड़ी बहन थीं।

जीवन्धर कुमार ने अपने मामा और नन्दाढ्य आदि जनों के साथ भगवान के समवसरण में दीक्षा ले ली और उनकी आठों रानियों ने भी महादेवी विजया के साथ चन्दना आर्यिका के पास उत्तम संयम धारण[4] कर लिया।

आर्यिकाओं[5] के संघ की एक नवदीक्षित आर्यिका ने पाँच यारों के साथ लताकुंज में एक वेश्या को प्रवेश करते हुए देखा, एक क्षण के लिए मन में यह भाव आ गया कि ऐसा सुख हमें भी प्राप्त हो, तत्पश्चात् गणिनी के पास जाकर आलोचना करके प्रायश्चित्त ग्रहण कर लिया और सल्लेखना से मरण किया फिर भी जन्मान्तर में द्रौपदी की अवस्था में स्वयंवर मंडप में उसने मात्र अर्जुन के गले में माला डाली थी किन्तु हवा से माला का धागा टूट जाने से पाँचों पांडवों पर फूल गिर गये, उस समय लोगों ने चर्चा कर दी कि द्रौपदी ने पाँच पति चुने हैं। ऐसा झूठा अपवाद उसे उतने मात्र भावों से हुआ।''

गुणरूपी आभूषण को धारण करने वाली कुन्ती, सुभद्रा तथा द्रौपदी ने भी राजीमती गणिनी के पास उत्कृष्ट दीक्षा ले ली। अन्त में तीनों के जीव सोलहवें स्वर्ग में उत्पन्न हुए हैं। आगे वहाँ से च्युत होकर निःसंदेह मोक्ष को प्राप्त करेंगे।

कुन्ती[6], द्रौपदी तथा सुभद्रा आदि जो स्त्रियाँ थीं, सब राजीमती आर्यिका के समीप तप में लीन हो गईं।

इन सब उदाहरणों से यह देखना है कि पूर्व में आर्यिकाएँ ही आर्यिका दीक्षा

---

1. षट्सहस्त्र नृपस्त्रीभिः सह राजीमती सदा।
प्रव्रज्याग्रेसरी जाता सार्यिकाणांगणस्यतु।। (हरिवंशपुराण 656।

इस कथन से यह समझना कि जो यह किंवदन्ती है कि नेमिनाथ के दीक्षित होने पर राजुल रोती-रोती वहाँ गईं और दीक्षित हो गईं सो गलत है। राजुलमती ने प्रभु को केवलज्ञान होने के बाद ही दीक्षा ली है। तीर्थंकर दीक्षा लेने के बाद मौन रहते हैं और किसी को दीक्षा भी नहीं देते हैं। 2. हरिवंशपुराण, पृ. 17। 3. श्रेणिक चरित, पृ. 287। 4. उत्तरपुराण, पृ. 527। 5. पांडवपुराण, पृ. 491। 6. उत्तरपुराण, पृ. 425।

देती थीं। सबसे प्रथम तीर्थंकर देव के समवसरण में जो आर्यिका दीक्षित होती थीं, वे ही गणिनी के भार को संभालती थीं। तीर्थंकर देव के अतिरिक्त किन्हीं आचार्य द्वारा आर्यिका दीक्षा के उदाहरण आगम में प्रायः कम मिलते हैं[1] तथा इन आर्यिकाओं की दीक्षा के लिए जैनेश्वरी दीक्षा शब्द भी आया है। इन्हें ''महाव्रतपवित्रांगा'' भी कहा है और इन्हें ''संयमिनी'' संज्ञा भी दी है। श्रमणी, साध्वी आदि भी नाम कहे हैं। ये आर्यिकाएँ इन्द्र, चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण आदि महापुरुषों द्वारा भी वंदनीय रही हैं।[2]

जब आर्यिकाओं के व्रत को उपचार से महाव्रत कहा है और सल्लेखना काल में उपचार से निर्ग्रन्थता का आरोपण किया है, तब वे मुनियों के समान भी वंदनीय क्यों नहीं होंगी? अवश्य होंगी। ऐसा समझकर आगम की मर्यादा को पालते हुए आर्यिकाओं की नवधाभक्ति करके उन्हें आहारदान देना चाहिए और समयानुसार यथोचित भक्ति करना, उन्हें पिच्छी, कमण्डलु, शास्त्र, वस्त्र (सफेद साड़ी) आदि दान भी देना चाहिए।

आजकल कुछ लोग कहते हैं कि आर्यिकाओं की 'नवधाभक्ति-पूजा आदि नहीं करना चाहिए, उन्हें सोचना चाहिए कि जब स्वयं श्री कुन्दकुन्द देव ने कह दिया कि इनकी सब चर्या मुनि के समान है, केवल वृक्षमूलयोग आदि को छोड़कर तथा रामचन्द्र जैसे महापुरुषों ने भी आर्यिकाओं की पूजा की, पुनः शंका ही क्या रहती है? अतः आर्यिकाओं को अट्ठाईस मूलगुणधारिणी, उपचार-महाव्रतसहित मानकर उनकी नवधाभक्ति आदि में प्रमाद नहीं करना चाहिए।

किसी भी कार्य के प्रारंभ में इष्टदेव का नाम स्मरण करें

आरंभे तु पुराणस्यान्यव्यापाराय कस्यचित्।
''नमः सिद्धेभ्यः'' इत्युच्चैर्नभ्रीभूतो वदेद्वचः।।

अर्थ—किसी शास्त्र के प्रारंभ में तथा अन्य किसी भी कार्य के प्रारंभ में नम्रता के साथ ''ॐ नमः सिद्धेभ्यः'' इस पद का उच्चारण करना चाहिए।

1. हरिवंशपुराण, पृ. 796। 2. हरिषेणा, श्रीषेणा नाम की दोनों कन्याओं ने ज्ञान सागर मुनीश्वर से आर्यिका दीक्षा ले ली और विहार करने लगीं। (पांडव पुराण, पृ. 489)

निःशल्योव्रती

सुगंधबाला—जीजी! शल्य किसे कहते हैं?

मालती—''शल्यमिव शल्य'' जो शल्य—कांटे के समान चुभती रहे—दुःख देवे, वह शल्य है। महाशास्त्र तत्त्वार्थ सूत्र में ''निःशल्यो व्रती'' यह सूत्र कहा है। इसका विशेष स्पष्टीकरण सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थराजवार्तिक आदि ग्रंथों में किया गया है।

सर्वार्थसिद्धि में कहते हैं—''शृणाति हिनस्तीति शल्यम्। शरीरानुप्रवेशिकांडादि-प्रहरणं शल्यमिव शल्यं यथा तत्प्राणिनोबाधाकारं तथा शारीरमानसबाधा-हेतुत्वात्कर्मोदयविकारः शल्यमित्युपचर्यते। तत्त्रिविधं मायाशल्यं, निदानशल्यं, मिथ्यादर्शनशल्यमिति। मायानिकृतिर्वचना। निदानं विषयभोगाकांक्षा। मिथ्यादर्शन-मतत्वश्रद्धानं। एतस्मात्त्रिविधाच्छल्यान्निष्क्रांतो निश्शल्यो व्रती इत्युच्यते।''

जो शृणाति अर्थात् पीड़ा देती है, वह शल्य है। जिस प्रकार शरीर में चुभा हुआ कांटा आदि प्राणियों को बाधाकर होता है, उसी प्रकार शरीर और मन संबंधी बाधा का कारण होने से कर्मोदयजनित विकार में भी शल्य का उपचार किया जाता है। वह शल्य तीन प्रकार की है—मायाशल्य, निदानशल्य और मिथ्याशल्य। माया—निकृति और वंचना अर्थात् ठगने की वृत्ति यह मायाशल्य है। भोगों की लालसा यह निदान शल्य है और अतत्त्वों का श्रद्धान यह मिथ्या शल्य है। इन तीनों शल्यों से जो रहित हैं, वही निःशल्यव्रती कहा जाता है।

इसी प्रकार से तत्त्वार्थराजवार्तिक में श्री अकलंक देव ने भी कहा है—

''अनेकधा प्राणिगणशरणाच्छल्यम्।

विविधवेदनाशलाकाभिः प्राणिगणं शृणाति हिनस्ति इति शल्यम्।''

अनेक प्रकार की वेदनारूपी सुईयों से जो प्राणिगणों को छेदे, वह शल्य है। इत्यादिरूप से यहाँ भी श्री अकलंकदेव ने तीन भेद करके उनके उपर्युक्त प्रकार से ही लक्षण किये हैं।

अर्थात् ये माया, निदान और मिथ्यात्वस्वरूप परिणाम ही जीव को दुःख देने वाले हैं अतः इन्हें शल्य कहा गया है।

सुगंधबाला—एक बार एक विद्वान् ने त्यागी की सभा में भाषण करते हुए इस सूत्र के अर्थ पर विशद प्रकाश डाला था और कहा था कि यदि कोई व्रती सोचता है कि मुझे यह कार्य करना है, वह कार्य करना है तो उसके वह शल्य

है। वह निःशल्य न होकर व्रती नहीं है। 'पुनः यह कार्य करना है इसके बाद यह कार्य करना है।' इत्यादि भावनाएँ किस शल्य में गर्भित होंगी?

मालती—उन विद्वानों का उस समय का भाषण वहाँ पर उपस्थित व्रतीजनों पर आक्षेपपूर्ण था, जो व्रती-त्यागीजन धार्मिक निर्माण आदि कार्यों में, निर्दोष ग्रंथों के प्रकाशन आदि कार्यों में श्रावकों को प्रेरणा देते हैं, उपदेश में आचार्यों के द्वारा प्रणीत आगम को पढ़ने, स्वाध्याय करने की प्रेरणा देते हैं, उन्हीं को वे शल्यसहित सिद्ध कर रहे थे। त्यागीजन भी उनके कटाक्ष को अच्छी तरह समझ रहे थे। चूँकि वे धर्मात्माओं के विषय में अवहेलना करना, निंदा करना आदि इन विद्वान् के स्वभाव से परिचित थे।

सुगंधबाला—पुनः उन व्रतियों ने शल्य के लक्षण का स्पष्टीकरण नहीं किया!

मालती—नहीं, उन्हें अवकाश ही नहीं दिया गया, चूँकि ये विद्वान् अपनी ही सुनाते रहते हैं दूसरों की नहीं सुनते हैं। परन्तु इस प्रसंग से मुझे यह अवश्य प्रतीत हुआ है कि आचार्यों द्वारा कथित लक्षण के अनुसार ये विद्वान् स्वयं माया और मिथ्यात्व शल्य से ग्रसित हैं। देखिए! त्यागी-व्रतियों से जो कुछ कहना है उनके सामने बैठकर स्पष्ट कहना चाहिए। पहले उन्हें नमस्कार करके भक्ति प्रदर्शित करके पुनः सभा में उन्हें आक्षेपपूर्ण शब्दों से संबोधित करना यह स्पष्ट मायाचार है। दूसरी बात वे जिन पर आरोप कर रहे थे, वे साधु आगम के अनुकूल अपनी प्रवृत्ति रखने वाले, अपने गुरुओं की परम्परा और आज्ञानुसार चलने वाले थे, पुनः उन्हें शल्यवान् या अव्रती सिद्ध करना तो मिथ्यात्व ही है तथा राजवार्तिक आदि ग्रंथों के विपरीत सूत्र का अर्थ करना भी मिथ्यात्व है चूँकि **'केवलि श्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादोदर्शनमोहस्य'** सूत्र के अनुसार वे श्रुत के विपरीत बोलकर तथा संघ आदि पर आरोप लगाकर अवर्णवाद करते हुए मिथ्यात्व का ही आस्रव कर रहे थे।

एक बार की घटना और मजेदार है कि एक मंदिर में एक अहंमन्य विद्वान् रोज प्रातः भगवान के समक्ष दो-तीन घंटे स्तोत्र पाठ किया करते थे। एक बार वहाँ पर कुछ त्यागीगण पहुँचे। वे भी प्रायः प्रातःकाल दर्शन के लिए मंदिर में आते थे। उन्हें देखकर स्तोत्र पाठ करते हुए ये सज्जन रोज-रोज ही भगवान को देखते हुए चिल्लाने लगते—

[1]ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः।
अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः।।
[2]परात्मनिंदाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य।
माया तैर्यग्योनस्य, ''निःशल्यो व्रती'', विघ्नकरणमंतरायस्य।।

इन श्लोक व सूत्रों को वे बार-बार तब-तक बोलते ही रहते थे कि जब तक वे व्रतीजन मंदिर से बाहर निकल नहीं जाते। यह क्रम कई दिनों तक चलता रहा, किन्तु एक दिन वे विद्वान् बहुत ही भक्ति से स्वयंभूस्तोत्र का पाठ कर रहे थे, उसमें ''द्व्यक्षः शक्रः सहस्राक्षो बभूवः बहुविस्मयः।'' जिसका अर्थ यह है कि हे भगवन्! दो नेत्र वाला इन्द्र आपके रूप को देखकर तृप्त न होते हुए एक हजार नेत्र वाला होकर अतीव विस्मयकर हो गया।

यह श्लोक बोलते-बोलते वे सज्जन देखते हैं कि यहाँ त्यागी खड़े होकर दर्शन कर रहे हैं पुनः वे उस स्तोत्र को छोड़कर स्वयं आश्चर्यकारी स्थिति को प्राप्त हो गये अर्थात् वे पूर्वोक्त ''ज्ञानं पूजां'' आदि श्लोक और सूत्रों को बार-बार बोलने लगे, यहाँ तक कि वे इतने आवेश में आ गये कि ऐसा मालूम हुआ मानो वे अभी इन त्यागियों-व्रतियों को पीट ही डालेंगे। जब कि वे हमेशा साधुओं की निंदा ही करते रहते हैं। उन्हें सत्य-असत्य यद्वा-तद्वा आरोप ही लगाया करते हैं।

उनकी इस स्थिति को देखकर मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि सचमुच में ये स्वयं अपने ज्ञान आदि के गर्व में उन्मत्त हो रहे हैं। ये भी पूर्ववक्ता के समान ही मायाचारपूर्वक साधुओं को सम्बोधन करते हुए आगमानुकूल प्रवृत्ति वाले त्यागियों के प्रति निंदा, अवर्णवाद आदि का प्रयोग करते हुए मिथ्यात्व से भी अपनी आत्मा को ग्रसित कर रहे हैं। निदान शल्य उनमें है या नहीं उनको वो जाने, किन्तु माया और मिथ्यात्व को तो स्पष्ट झलका रहे हैं। पर की निंदा और आत्म प्रशंसा करके तथा अपने में अविद्यमान गुणों को प्रकट कर और दूसरों के विद्यमान गुणों को ढकते हुए वे नीच गोत्र के आस्रवों के कारण में भी लिप्त हैं। भगवान के स्तोत्र के समय दूसरों को उपदेश देने का उनका यह व्यापार सर्वथा निंदनीय ही है। अस्तु! ऐसा प्रतीत होता है कि शायद पूज्यपाद स्वामी ने ऐसे ही व्यक्तियों के ऊपर करुणा करके यह श्लोक बनाया होगा—

[3]परोपकृतिमुत्सृज्य स्वोपकारपरो भव।
उपकुर्वन्परस्याज्ञो दृश्यमानस्य लोकवत्।।

1. रत्नकरंडश्रावकाचार। 2. तत्त्वार्थसूत्र। 3. इष्टोपदेश, 32।

हे भव्यात्मन्! परोपकार को छोड़कर तू अपने उपकार में तत्पर हो, अरे! पर के उपकार को करते हुए अज्ञानीजन इस दृश्यमान दिखते हुए लोगों के समान ही हैं।

वास्तव में जो इस युग में अपने को ही सब कुछ समझकर त्यागी-व्रतियों को मूर्ख, अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि, शल्यवान आदि दोषों से युक्त समझते हैं और उन्हें इस प्रकार भाषण के बहाने या भगवान के पास स्तोत्र पाठ करने के बहाने आक्षेपपूर्ण शब्दों से सम्बोधित करते हैं, वे बेचारे परोपकार की बुद्धि के अभाव से स्वयं अपनी आत्मा को अनेक प्रकार के कर्मों से लिप्त कर लेते हैं, जिसका कि उन्हें भान भी नहीं हो रहा है।

कहने का मतलब यह रहा कि "किसी धार्मिक कार्य को करने या कराने की भावना शल्य नहीं है।' आचार्य श्री कुंदकुंददेव ने भी मुनियों की चर्या को बतलाते हुए प्रवचनसार में कहा है–

दंसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोषणं तेसिं।
चरिया हि सरागाणां, जिणिंदपूजोवदेसो य।।248।।

गाथा में मुनियों के लिए आदेश दिया है कि वे दर्शन और ज्ञान का उपदेश देते हैं, शिष्यों का संग्रह करते हैं और उनका पोषण करते हैं तथा जिनेन्द्र भगवान की पूजन का उपदेश देते हैं। यह सब सरागी अर्थात् छठे गुणस्थानवर्ती मुनियों की चर्या मानी गई है।

प्रभावना अंग के लक्षण को बतलाते हुए श्री कुंदकुंद ने मूलाचार में भी कहा है कि "धर्मकथाओं के उपदेश से, बाह्य योगों से, जीवों में दया करने से और भी कारणों से धर्म की प्रभावना करना चाहिए।" पुनः टीका में वसुनंदि आचार्य ने कहा कि "परवादिजसयाष्टांगनिमित्तदानपूजादिभिश्च धर्मः प्रभावयितव्यः इति।[1]" परवादियों से शास्त्रार्थ करके विजय प्राप्त करना, अष्टांग निमित्तज्ञान के द्वारा और दान-पूजा आदि के द्वारा धर्म की प्रभावना करना चाहिए।

श्री अकलंक देव ने जिनधर्म की रक्षा हेतु ही छह महीने तक शास्त्रार्थ किया था। श्री वज्रकुमार महामुनि ने धर्म की प्रभावना हेतु विद्याधरों को आदेश देकर उर्विला रानी के द्वारा आयोजित जिनेन्द्र देव की रथयात्रा पहले निकलवाई थी। वर्तमान में आचार्यश्री शांतिसागर जी महाराज की प्रेरणा से कुंथलगिरि में देशभूषण-कुलभूषण केवली मुनियों की मूर्ति और कुंभोज में बाहुबलि की प्रतिमा विराजमान हुई एवं धवला आदि ग्रंथों का प्रकाशन ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण कराना

1. मूलाचार, पृ. 222।

आदि महान-महान कार्य हुए हैं। जैन मंदिर में हरिजन प्रवेश कानून लगाने पर आचार्यश्री ने लगभग ढाई वर्ष तक अन्न का त्याग करके अथक पुरुषार्थ के बल से धर्मायतनों की पवित्रता की रक्षा की है।

इन विद्वानों के द्वारा किये गये शल्य के लक्षण के अनुसार तो ये सभी आचार्य शल्य अव्रती हो जावेंगे, किन्तु ऐसी बात नहीं है। हमें आचार्यों के द्वारा कथित लक्षणों पर ध्यान देना चाहिए।

सुगंधबाला–जीजी, आपने अच्छा समाधान किया, अब मैं आचार्यों के द्वारा रचित ग्रंथों का ही स्वाध्याय करूँगी।

उषा वंदना

उठो भव्य! खिल रही है उषा, तीर्थ वंदना स्तवन करो।
आर्तरौद्र दुर्ध्यान छोड़कर, श्री जिनवर का ध्यान करो।।1।।
अष्टापद से ऋषभदेव जिन, वासुपूज्य चम्पापुर से।
ऊर्जयन्त से श्री नेमीश्वर, मुक्ति गये वंदों रुचि से।।2।।
पावापुरी सरोवर से इस, उषा काल में श्री महावीर।
विधुत क्लेश निर्वाण गये हैं, नमो उन्हें झट हो भवतीर।।3।।
बीस जिनेश्वर मोक्ष गये हैं, श्री सम्मेद शिखर गिरि से।
और असंख्य साधुगण भी, शिव गये उन्हें वंदों रुचि से।।4।।
जिनवर गणधर मुनिगण की, निर्वाण भूमियाँ सदा नमो।
पंचकल्याणक भूमि तथा, अतिशययुत क्षेत्र सभी प्रणमो।।5।।
शालिपिष्ट भी शर्करयुत, माधुर्य स्वादकारी जैसे।
पुण्य पुरुष के पद रज से ही, धरा पवित्र हुई वैसे।।6।।
त्रिभुवन के मस्तक पर सिद्ध-शिला पर सिद्ध अनंतानंत।
नमो नमो त्रिभुवन के सभी, तीर्थ को जिससे हो भव अंत।।7।।
तीर्थक्षेत्र वंदन से नंतानंत, जन्म कृत पाप हरो।
सम्यक् "ज्ञानमती" श्रद्धा से, शीघ्र सिद्ध सुख प्राप्त करो।।8।।

संन्यासी-संन्यासिनी

कमला—माताजी! सभी सम्प्रदाय के साधु-ब्रह्मचारी ही होते हैं फिर उनका त्याग उत्तम फल क्यों नहीं दे सकता?

माताजी—बेटी कमला! किसी-किसी सम्प्रदाय में कुछ साधु अपने साथ पत्नी को रखते हैं। ऐसे उदाहरण आज भी देखने को मिलते हैं और चतुर्थकाल में भी रखते थे जिनके उदाहरण शास्त्र में मौजूद हैं।

कमला—शास्त्र में तो मैंने नहीं पढ़ा। माताजी! आप कोई उदाहरण सुनाइये।

माताजी—बेटी! अभी तुमने शास्त्र स्वाध्याय कहाँ किया है! एक-दो छोटी पुस्तकें पढ़ ली हैं। सुनो, मैं तुम्हें पद्मपुराण की एक घटना सुनाती हूँ।

''ब्रह्मरुचि नाम का एक ब्राह्मण था। उसके कूर्मी नाम की स्त्री थी। कुछ मन्दकषाय होने से वह ब्राह्मण तापस बन गया और पत्नी के साथ ही वन में रहने लगा। वहाँ वे दोनों प्राणी फल तथा कन्दमूल आदि भक्षण करते थे। कुछ दिन बाद ब्राह्मणी गर्भवती हो गई। एक समय निर्ग्रंथ मुनि अपने संघ सहित कहीं जा रहे थे, सो इधर से ही निकले, उनको थकान अधिक हो चुकी थी अतः श्रम दूर करने के लिए वे सब मुनि कुछ क्षण के लिए उस आश्रम में बैठ गये। उन मुनियों ने इन तापस दम्पत्ति को देखा, जिनका आकार तो उत्तम था पर कार्य निंदनीय था। गर्भ के भार से पीड़ित ब्राह्मणी को देखकर मुनियों के हृदय में उस तापस को धर्मोपदेश देने की इच्छा हुई। उनमें जो बड़े मुनि थे, वे उपदेश देने लगे—

''हे तापस! तूने संसार-सागर से पार होने की आशा से धर्म समझकर यह वेष धारण किया है। भाई-बंधुओं को छोड़कर स्वयं अपने आपको वन के कष्टों में डाल रखा है। अरे भले मानुष! तूने प्रव्रज्या धारण की है पर तुझमें और गृहस्थ में भेद ही क्या है? तूने जो चारित्र ग्रहण किया था, उसके प्रतिकूल चल रहा है। केवल वेष ही तेरा साधु का है पर चारित्र तो गृहस्थ जैसा ही है। जो साधु एक बार स्त्री का त्याग कर दीक्षा ले लेता है और पुनः स्त्री का सेवन करता है, वह पापी है। मरकर भयंकर अटवी में भेड़िया होता है। जो सब प्रकार के आरंभ को कर रहा है, अब्रह्म और नशा का सेवन करता है, ईर्ष्या और काम से जल रहा है वह अत्यन्त मोही है।

जो सुखपूर्वक उठता, बैठता और विहार करता है, सदा भोजन एवं वस्त्रों में बुद्धि लगाये रखता है, फिर भी अपने आपको सिद्ध मानता है वह मूर्ख अपने

आपको धोखा देता है। जिनका चित्त एकाग्र है, ऐसे सर्व परिग्रह के त्यागी मुनि ही ध्यान करने योग्य तत्त्व का ध्यान कर सकते हैं, तुम्हारे जैसे आरंभी मनुष्य नहीं। परिग्रह के रखने से राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है, राग से काम उत्पन्न होता है और द्वेष से जीवों का विघात होता है। जो काम और क्रोध के अभिभूत हो रहा है, उसका मन मोह से ग्रसित रहता है। वह करने योग्य और न करने योग्य कार्यों में मूर्ख रहता है, उसकी बुद्धि विवेकयुक्त नहीं रहती है।

जिस प्रकार जलते हुए मकान से कोई बाहर निकल आवे और पुनः उसी में प्रवेश कर जावे तो वह मूर्ख ही कहलाता है, उसी प्रकार तू मूढ़ ही दिख रहा है। जो मनुष्य इच्छानुसार चाहे जो काम करते रहते हैं, उनके अशुभ कर्मों का ही बंध होता है और उनका इस भयंकर संसारसागर का भ्रमण कभी समाप्त नहीं हो सकता है अतः हे साधो! यदि तुझे संसार के दुःखों से छूटने की इच्छा है, तो वैराग्य को धारण कर और स्त्री-संसर्ग, आरंभ, परिग्रह इन सबका त्याग कर।''

इस प्रकार से सच्चे उपदेश को सुनकर ब्रह्मरुचि विचार करने लगा-

''ओह! मेरा जीवन सचमुच में बड़ा कष्टकर ही है। घर छोड़कर यहाँ आकर मैंने कुटी बना ली है उससे मुझे क्या तत्त्व मिला है? देखो, इन सभी मुनियों की चर्या कितनी पवित्र है और ये कितनी सुखी हैं! अपने को भी इन्हीं का शिष्यत्व स्वीकार कर लेना चाहिए जिससे इहलोक भी निर्द्वंद्व सुखी हो, परमात्मा का ध्यान कर सकूँ तथा परलोक में भी अच्छी गति मिले।''

ऐसा सोचकर वह ब्रह्मरुचि गुरु के श्रीचरणों में गिर पड़ा और पश्चात्ताप करते हुए बोला—

''भगवन्! अभी तक मैं मिथ्यात्व के निमित्त से मूढ़ होता हुआ अपनी आत्मा को ही ठग रहा था, अब आपके प्रसाद से मुझे सच्चे धर्म का उपदेश मिला है अतः हे नाथ! हे दयासागर! अब दया करके मुझ मूढ़ का उद्धार कीजिए और मुझे यह पवित्र जिनदीक्षा दीजिए।''

इतना कहकर वह अपनी पत्नी कूर्मी को समझा-बुझाकर उससे विरक्त हो जैनी दीक्षा लेकर गुरु के संघ में प्रविष्ट होकर उन्हीं के साथ वहाँ से विहार कर गया।

कूर्मी ने भी जान लिया कि जीवों का जो संसार में परिभ्रमण होता है वह राग के निमित्त से ही होता है, ऐसा सोचकर वह मिथ्यादृष्टियों का संसर्ग छोड़कर जिनभक्ति में तत्पर होती हुई निर्जन वन में सिंहनी के समान रहने लगी। नवमास व्यतीत होने के बाद दशवें महीने में उसके पुत्र का जन्म हुआ। पुत्र के सुन्दर मुख

को देखकर सन्तुष्ट होती हुई भी वह माता विचार करने लगी—

"महर्षियों ने इस संसर्ग को अनर्थ का ही कारण कहा है अतः अब मैं इस पुत्र की संगति से अलग होकर अपनी आत्मा का हित क्यों न करूँ? इस शिशु ने भी पूर्वजन्म में जो शुभ या अशुभ कर्म संचित किए होंगे, उसी के अनुसार ही इसको अच्छा या बुरा फल मिलेगा। घोर अटवी, समुद्र अथवा शत्रुओं के मध्य में स्थित जीवों की अपने आपके द्वारा किये हुए कर्म ही रक्षा करते हैं, अन्य लोग नहीं। जिसका काल आ जाता है ऐसा कर्मों के अधीन हुआ जीव माता की गोद में स्थित क्यों न हो, मृत्यु के द्वारा हर लिया जाता है।"

इस प्रकार तत्त्व का चिन्तन करती हुई तापसी ने निरपेक्ष बुद्धि से उस बालक को वन में ही छोड़ दिया। आप स्वयं अपना मन शांत करके आलोक नगर में चली गई, वहाँ आर्यिकाओं के संघ की गणिनी इन्द्रमालिनी आर्यिका की शरण लेकर उनके पास आर्यिका हो गई और उन्हीं के सानिध्य में रहकर निर्दोष चर्या पालन करने लगी।

इधर जृंभक नाम के देव आकाश मार्ग से कहीं जा रहे थे। उन्होंने रोने आदि से रहित इस पुण्यात्मा बालक को देखा। नीचे उतरकर आये और बड़े आदर से उस बालक को उठाकर अपने साथ ले गये। उसका अच्छी तरह से पालन किया और युवा होने पर उसे समस्त शास्त्र पढ़ा दिये। विद्वान् होकर उस बालक ने आकाशगामिनी विद्या प्राप्त कर ली और भरी जवानी में ही अत्यन्त दृढ़ अणुव्रत धारण कर लिये।

उसने देवों द्वारा कथित चिन्हों से पहचान कर अपनी माता के दर्शन किए और अपने पिता निर्ग्रन्थ गुरु का दर्शन कर उसके निकट में सम्यग्दर्शन ग्रहण कर लिया। क्षुल्लक के व्रत ग्रहण कर जटारूपी मुकुट को धारण करता हुआ वह अवद्वार के समान हो गया अर्थात् न गृहस्थ रहा न मुनि ही किन्तु उन दोनों के मध्य का हो गया। वह कंदर्प, कौत्कुच्य और मौखर्य से अधिक स्नेह रखता था, कलह देखने का सदा इच्छुक रहता था, संगीत का प्रेमी और प्रभावशाली था। बड़े-बड़े राजा लोग उसका सम्मान किया करते थे। वह राजाओं के अन्तःपुर में बिना रोक-टोक के आता-जाता रहता था। निरन्तर कुतूहलों पर दृष्टि डालता हुआ आकाश तथा पृथ्वी पर सर्वत्र भ्रमण किया करता था। देवों ने उसका पालन किया था इसलिए उसकी प्रायः सभी चेष्टाएँ देवों के समान थीं। वह 'देवर्षि' अथवा 'नारद' होता हुआ सदा आश्चर्यकारी कार्यों को करता रहता था।

यह नारद मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र के समय में हुआ है। बेटी कमला! इस प्रकार से मैंने तुझे संन्यासियों के सपत्नीक रहने की तथा नारद की उत्पत्ति की प्रामाणिक कथा सुनाई है। इस कथानक से यही अभिप्राय निकालना चाहिए कि चतुर्थकाल में भी कुछ संन्यासी स्त्रियों के साथ रहते थे।

कमला—माताजी! यह कथा तो मैंने आज ही सुनी है, बहुत रोमांचकारी है और साथ ही वैराग्य बढ़ाने वाली भी है। अच्छा, एक बात तो बताइए ऐसे 'नारद' कितने हुए हैं?

माताजी—बेटी! नारद नव होते हैं और रुद्र भी नव होते हैं, वे इस हुंडावसर्पिणी के दोष से ही जन्मते हैं, अन्यत्र क्षेत्रों में अथवा अन्य अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी में इनका जन्म नहीं होता है। बेटी कमला! तुम तिलोयपण्णत्ति, पद्मपुराण, हरिवंशपुराण आदि ग्रंथों का स्वाध्याय करो, इससे तुम्हें बहुत सा ऐतिहासिक ज्ञान प्राप्त होगा।

कमला—अच्छा माताजी! अब मैं स्वाध्याय जरूर करूँगी।

दिगम्बराचार्य गुरु सबसे बड़े वैद्य हैं

जैसे वैद्य, रोगी, औषधि और परिचारक के संयोग से आरोग्य होता है वैसे ही गुरु, शिष्य, रत्नत्रय और साधन के संयोग से मोक्ष होता है।

आचार्य वैद्य हैं, शिष्य रोगी है, औषधि चर्या है। इन्हें तथा क्षेत्र, बल, काल और पुरुष को जानकर धीरे-धीरे इनमें दृढ़ करे।

आचार्य देव वैद्य हैं, शिष्य रोगी हैं, औषधि निर्दोष भिक्षा चर्या है, शीत, उष्ण आदि सहित प्रदेश क्षेत्र हैं, शरीर की सामर्थ्य आदि बल है, वर्षा आदि काल हैं एवं जघन्य, मध्यम तथा उत्कृष्ट भेद रूप पुरुष होते हैं। इन सभी को जानकर आकुलता के बिना आचार्य शिष्य को चर्यारूपी औषधि का प्रयोग कराये ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार वैद्य रोगी को आरोग्य हेतु औषधि प्रयोग कराकर स्वस्थ कर देता है।

—मूलाचार-श्री वट्टकेराचार्य

दृढ़ता का ज्वलन्त उदाहरण

सेठ प्रियदत्त अपनी भार्या और कन्या सहित श्री महामुनि धर्मकीर्ति आचार्य के समीप बैठे हुए धर्मोपदेश सुन रहे हैं। उपदेश के अनन्तर सेठ जी हाथ जोड़कर गुरु से निवेदन करते हैं–

''श्रीगुरुदेव! इस अष्टान्हिक महापर्व में आठ दिन के लिए मुझे ब्रह्मचर्य व्रत प्रदान कीजिए।''

मुनिराज भी पिच्छिका उठाकर कुछ मंत्र बोलते हुए व्रत दे देते हैं। इसी बीच सेठानी भगवती जी भी बोल उठती हैं–

''भगवन्! मुझे भी आठ दिन के लिए ब्रह्मचर्य व्रत प्रदान कीजिए।''

मुनिराज सेठानी जी को भी व्रत दे देते हैं। इसी बीच सेठानी हँसकर पुत्री से बोलती हैं-

''बेटी! तू भी कुछ व्रत लेगी क्या?'' अनंतमती कन्या बोल उठती है–

''हाँ गुरुदेव! मुझे भी ब्रह्मचर्य व्रत दे दीजिए।''

कुछ क्षण वहाँ ठहकर ये तीनों लोग गुरु की स्तुति-वंदना करके अपने घर वापस आ जाते हैं। समय अपनी गति से चल रहा है। कुछ दिन बाद अनंतमती को युवती देख सेठ प्रियदत्त अपनी पत्नी से उसके विवाह करने की चिंता व्यक्त करते हैं। अनंतमती के सामने जब यह चर्चा आती है, तब वह अपनी सखियों द्वारा माता-पिता को विवाह न करने की अपनी बात पहुँचा देती है। चिंतित सेठ-सेठानी पुत्री को पास में बुलाकर बोलते हैं–

''बेटी अनन्तमती! अब तुम किशोरावस्था को पारकर युवावस्था में प्रवेश कर चुकी हो अतः अब तुम्हारा किसी योग्य वर के साथ विवाह करना हमारा कर्तव्य है, क्योंकि यही अनादि परम्परा है, कन्या तो पराये घर का ही धन है अतः तुम्हें इस विषय में इंकार नहीं करना चाहिए।''

अनन्तमती माथा नीचा कर लजाती हुई बोलती है–

''पूज्य पिताजी! जब मैंने गुरु के समक्ष ब्रह्मचर्य व्रत लिया हुआ है तो पुनः आज विवाह की चर्चा कैसी?''

प्रियदत्त सेठ आश्चर्यचकित होकर बोलते हैं–बेटी! ब्रह्मचर्य व्रत! ऐं, तूने यह व्रत कब और किससे लिया है?''

कन्या बोलती है–पिताजी! क्या आप भूल गये! श्री धर्मकीर्ति आचार्य के

सान्निध्य में जब आपने और माँ ने व्रत लिया था, तभी तो मैंने भी लिया था।''

पिता कहते हैं–''बेटी! उस समय तो मात्र अष्टान्हिक पर्व में आठ दिन के लिए ही हम लोगों ने व्रत लिया था और तुझे तो विनोद में ही दिलाया था।'

''पिताजी! व्रत ग्रहण में विनोद कैसा? और मैंने तो आठ दिन की बात भी नहीं कही थी अतः मैंने तो अपने जीवन भर के लिए ही यह व्रत लिया था और अब मैं इस व्रत का पूर्णतया पालन करूँगी, मैं विवाह नहीं करूँगी।''

बहुत कुछ समझाने के पश्चात् भी जब अनन्तमती अपनी दृढ़ता से चलायमान नहीं होती है, तब सेठानी कहती है–

''ठीक है, जब बेटी की इच्छा नहीं है तो आप इसे जबरदस्ती क्यों संसार बंधन में फँसाना चाहते हैं। छोड़िए, अपने घर में क्या कमी है? वह जीवन भर धर्म साधना करते हुए अपने घर में पुत्रवत् रहेगी। मेरे लिए तो यही पुत्री है, यही पुत्र है, यही सब कुछ है अतः मेरे जीवन भर यह मेरी आँखों के सामने रहेगी, अच्छा ही है।''

''अनन्तमती बहुत ही प्रसन्न हो जाती है और माता-पिता को परमस्नेह से निहारती हुई, कृतार्थ हो जाती है। एक दिन वह अपने बगीचे में अपनी सहेलियों के साथ क्रीड़ा करने पहुँचती है। वहाँ पर विनोदपूर्ण वातावरण में यत्र-तत्र विचरण कर अपने झूले पर बैठकर झूलने लगती है। इसी बीच कुण्डलमंडित नाम का विद्याधर अपनी पत्नी के साथ विमान में बैठा हुआ उधर निकलता है। कन्या को देखते ही वह कुछ सोचकर वापस जाकर पत्नी को महल में छोड़कर आप पुनः विमान में बैठकर उस बगीचे में आ जाता है और क्षणमात्र में अनन्तमती को उठाकर अपने विमान में बिठाकर आकाशमार्ग से चला जाता है। उधर उसकी प्रिया को कुछ आशंका हो जाने से वह पीछे से विमान में बैठकर विद्याधर के पीछे-पीछे आ जाती है। उस पत्नी का क्रोध से लाल मुख हुआ देख वह विद्याधरों का राजा होते हुए भी घबड़ा जाता है और उस समय वह कुछ भी नहीं सोच पाता है। तत्क्षण ही अनन्तमती को एक पर्णलघ्वी नाम की विद्या के आधीन कर उसे भयंकर वनों में छोड़ देता है और आप पत्नी के साथ घर वापस आ जाता है।

इधर निर्जन वन में गिरकर अनन्तमती चारों ओर अपने को असहाय देखकर जोर-जोर से रोने लगती है परन्तु उसका वह 'अरण्यरुदन'' किसको करुणान्वित कर सकता है? कुछ समय बाद वहाँ पर शिकार खेलने का इच्छुक एक भीलों का सरदार उधर आ निकलता है। अनन्तमती के रूप को देखकर वह

काम के वाणों से घायल होता हुआ उसे अपने कंधे पर बिठाकर अपने घर ले आता है। अनन्तमती सोचती है मेरे पुण्य का उदय शीघ्र ही आ गया है अतः यह बंधु अब मुझे मेरे घर पहुँचा देगा, किन्तु होनहार जो होती है, सो तो होकर ही रहती है।

वह भीलों का राजा उसे एकान्त में बिठाकर कहता है–देवि! आज तुम्हें अपना परम सौभाग्य समझना चाहिए जो कि मुझ जैसा राजा तुम पर मुग्ध है और वह तुम्हें अपनी पट्टरानी बनाना चाहता है अतः प्रसन्न होकर उसकी प्रार्थना स्वीकार करो और अपने मधुर प्रेम से उसे सुखी करो।''

बेचारी अनन्तमती उस पापी की इस वासनापूर्ण बात को सुनकर थर-थर काँपने लगती है और मन ही मन महामंत्र का स्मरण करने लगती है। वह राजा उसे चुप देखकर बार-बार अनुनय-विनय करता है। अनन्तमती भयभीत हो रोने लगती है। तब वह राक्षसी प्रकृति का क्रूर भीलपति उसे अनेक प्रकार से डराने लगता है। उस समय अनन्तमती अपने में दृढ़ता लाकर उसे फटकारती है–

''अरे दुष्ट! पापी! तू मेरे शरीर को स्पर्श भी नहीं कर सकता है। दूर हट, मेरे लिए इस विश्व में सारे ही पुरुष पिता के समान हैं। मैं कथमपि तेरी वासना को पूरी नहीं कर सकती हूँ।''

उस समय भीलराज सोचता है कि यह नादान कन्या मेरे वश न होवे, क्या मैं ऐसा शक्तिहीन हूँ? अरे! मैं इससे तो जबरन भी कामसेवन कर सकता हूँ। ऐसा सोचकर वह पापी उसे पकड़ना चाहता है कि एकदम अनन्तमती जिनेन्द्रदेव का स्मरण करके प्रार्थना करती है–

''भगवन्! मेरे शील की रक्षा कीजिए।''

तत्क्षण ही उसकी जिनभक्ति के प्रसाद से और शील की अखण्ड भावना से वहाँ वनदेवी आ जाती है और अनन्तमती की रक्षा करके उस पापी को दंडित करके उसे ऐसी मार लगाती है कि वह उस देवी से और अनन्तमती से क्षमा-याचना ग्रहण कर लेता है। प्रातःकाल शीघ्र ही वह अनन्तमती को ले जाकर एक साहूकार के सुपुर्द कर देता है और उससे कहता है कि–

''बंधुवर! आप इस कन्या को इसके घर पहुँचा दीजिए।''

वे सेठ उस समय तो ऐसा वायदा करके उस कन्या को अपने साथ ले आते हैं किन्तु उसके मनमोहक सौंदर्य को देखकर उसे अपनाने की सोचने लगते हैं। वे कहते हैं–

''सुन्दरि! तुम बड़ी भाग्यवती हो, जो कि उस नरपिशाच के हाथ से छूटकर मुझ जैसे नररत्न को प्राप्त हुई हो। ओह! कहाँ तुम्हारा यह अनिंद्य सौन्दर्य और कहाँ वह भील राक्षस? अहो! आज मेरा भी परम सौभाग्य है कि जो तुम जैसी रमणीरत्न का लाभ हुआ है। अब तुम मुझ पर अपनी प्रसन्न दृष्टि करोद्ध माता-पिता के वियोग का शोक छोड़ो और स्नान-भोजन आदि करके मेरे साथ सुखों का अनुभव करते हुए मेरे इस अपार धन-वैभव की स्वामिनी बनो।'' इतना कहकर वह अनन्तमती से कुछ उत्तर की प्रतीक्षा करते हुए एकटक उसके मुख की तरफ देखता है। अनन्तमती सोचने लगती है–

''अहो! मैं कुएँ से निकली तो खाई में आ पड़ी। हाय! यहाँ पर भी मेरे धर्म के सिवाय भला मेरा रक्षक कौन हो सकता है? हे जिनशासन देवते! आप ही इस समय मेरी रक्षिका हैं.....।'' ऐसा सोचते-सोचते उसकी आँखों से अश्रुओं की झड़ी लग जाती है। तब सेठ उसे अनेकों प्रकार से समझाने का प्रयत्न करने लगता है। उस समय वह बोलती है–

''नराधम! मैंने तो समझा था कि तू पिता के सदृश मेरी रक्षा करेगा और मुझे मेरे घर पहुँचा देगा, किन्तु हाय! तुझे भी पाप बुद्धि ही उपज रही है।''

इतना कहकर अनन्तमती उसे भिल्ल के यहाँ की घटना सुना देती है। वह पुष्पक सेठ उसे कोई देवी समझकर घर से बाहर करने की सोचता है पुनः कुछ दुष्ट अभिप्राय को धारण करते हुए वह सेठ उसे शहर में ले जाकर एक कामसेना की वेश्या को सौंप देता है। वह वेश्या भी सोचने लगती है–

''अहो! ऐसा मनोहररूप क्या मनुष्यों की कन्याओं में संभव है? सचमुच में इसी के प्रसाद से मैं तो सोने का महल बनवा लूँगी।''

घर में लाकर वेश्या भी उसे बड़े प्यार से समझाने लगती है–

''बेटी! अपने इस मादक यौवन के मधुर रस का आस्वादन करके अपने इस नर जीवन को सफल करो। क्या बार-बार ऐसा रूप-सौन्दर्य, ऐसा मनुष्य जीवन मिलने वाला है?''

अनन्तमती उसे समझाती है–

''भद्रे! जो पाप करने में तत्पर हैं उन्हीं के लिए यह नरपर्याय पुनः दुर्लभ है। सचमुच में वे तो नरक-निगोदों में ही अनन्तकाल तक सड़ते रहते हैं किन्तु जो इस नर जन्म को पाकर विषय-सुखों को, पापों को जलांजलि देकर पुण्य कार्य में, ब्रह्मचर्य में तत्पर होते हैं, उन्हें मनुष्य पर्याय तो क्या, इससे भी श्रेष्ठ

देवपर्याय भी दुर्लभ नहीं है और तो क्या, वे ही पुण्यशाली परम्परा से अक्षय-अनन्त ऐसे मोक्षसुख को प्राप्त करने में समर्थ हो जाते हैं।''

इतना सब कुछ समझाने पर भी उस वेश्या के काले हृदय पर रंचमात्र भी असर नहीं हो पाता है। सो सच ही है, कहीं कोयला भी जल से धोने से सफेद होता है क्या?

वह वेश्या जब सरल तरीके से अनन्तमती को पाप कार्यों में नहीं लगा पाती है, तब वह उसे अनेकों प्रकार के कष्ट देने लगती है। कुछ दिन तक भी जब अपना उस पर कुछ भी चक्र नहीं चलता हुआ देखती है, तब उसे एक सिंहराज नाम के राजा को सौंप देती है। देवांगना के समान सुन्दर रूप देखकर वह राजा भी उसे अपनी पट्टरानी बनाने की सोचता है और उसके पास आकर अनुनय-विनय करने लगता है। अनन्तमती उसे भी फटकार कर तिरस्कृत करती है और अपने शील में सुमेरु के समान अचल रहती है। तब वह कामी उससे बलात्कार करने के लिए तैयार हो जाता है, जैसे ही वह पापी उस तेजोमयी मूर्तिस्वरूप अनन्तमती की तरफ हाथ बढ़ाता है, वैसे ही वनदेवी वहाँ उपस्थित होकर बोलती है–

''खबरदार! यदि इस सती का तूने स्पर्श भी किया तो तेरा जीवन अभी समाप्त कर दिया जायेगा।''

सिंहराज का कलेजा काँप उठता है। वह देवी के चरणों में गिरकर क्षमा-याचना करने लगता है। इस तरह वनदेवी के द्वारा रक्षित हुई अनंतमती महामंत्र का स्मरण करते हुए शान्त हो जाती है, तब राजा अपने कर्मचारी को बुलाकर उसे वन में छोड़ देने की आज्ञा दे देता है।

वन में पहुँचकर अनन्तमती अपने पूर्वकृत कर्मों की निंदा करते हुए कुछ देर तक तो विलाप करती रहती है पुनः कुछ धैर्य धारणकर महामंत्र का जाप करते हुए वह भयंकर वन में भी किसी शहर के मार्ग को ढूँढने की दृष्टि से चल पड़ती है। वन के फलों को खाकर और झरने के पानी को पीकर अपनी क्षुधा-तृषा शान्त करते हुए वह आगे बढ़ती चली जाती है। जब अत्यधिक थक जाती है, तब किसी पत्थर की चट्टान पर विश्राम कर लेती है और पुनः उठकर चलने लगती है। चलते-चलते वह अयोध्या नगरी के बाहर एक बगीचे में पहुँच जाती है। वहाँ पर एक मंदिर में पद्मश्री नाम की आर्यिका जी ठहरी हुई थीं। भगवान के दर्शन करके उन आर्यिका के दर्शन करती है और अपने को संकट से मुक्त

हुआ समझकर संतोष की साँस लेती है। आर्यिका पूछती हैं–

''बेटी! तुम किसकी कन्या हो? और इस दीन-हीन दशा में कैसे दिख रही हो?'' अनंतमती का धैर्य स्खलित हो जाता है और उसकी आँखों से अविरल अश्रुधारा बहने लगती है, तब पद्मश्री आर्यिका उसे धीरज बंधाकर अपनी गोद में बिठा लेती हैं और उसके मस्तक पर हाथ फेरते हुए उसे सांत्वना देती हैं। कुछ क्षण बाद शांतचित्त होकर अनन्तमती उन आर्यिका से अपनी सारी बीती सुना देती है। सारी घटनाओं को सुनकर तत्त्वज्ञान से भरपुर उन आर्यिकाश्री का चित्त द्रवित हो उठता है पुनः बोलती हैं–

''बेटी! पूर्व जन्म में संचित किये गये अशुभ कर्मों का फल सभी को भोगना पड़ता है अतः चिन्ता की कोई बात नहीं है। हाँ, तुम्हारे धैर्य के प्रभाव से और शील के माहात्म्य से जो देवी ने तुम्हारे व्रत की रक्षा की है, सो तुम कम पुण्यशालिनी नहीं हो, किन्तु महान् पुण्यशालिनी हो। अपने व्रत की दृढ़ता के प्रभाव से देवों का आसन कम्पित करा देना, उन्हें बुला लेना, यह साधारण मनुष्य के वश की बात नहीं है।..... अहो! तुम एक महान सती शिरोमणि हो, स्त्रीरत्न हो, तुम्हारे जन्मदाता माता-पिता भी धन्य हैं।''

इत्यादि प्रिय वचनों से उसे संतुष्ट करके वे उसे अपने पास ही ठहरा लेती हैं। अनन्तमती भी आर्यिका के आश्रय और मधुर वात्सल्य को पाकर अपने आपको धन्य समझने लगती है।

सेठ प्रियदत्त को जब अनन्तमती के हरे जाने का समाचार मिलता है, तब वे प्रथम तो दुःख से मूर्च्छित हो जाते हैं, सचेत होने पर कुछ धैर्य धारणकर खोज के लिए यत्र-तत्र बहुत से किंकरों को भेज देते हैं किन्तु अनन्तमती का भला किंकरगण कैसे पता चला सकते थे, जबकि विजयार्ध पर्वत के दक्षिण श्रेणी के किन्नरपुर नगर का स्वामी कुण्डलमण्डित नाम का विद्याधर उसे हर कर ले गया था और अपनी पत्नी के डर से उसे मध्य में ही जब छोड़ी थी, तब वह इसी आर्यखण्ड के किसी निर्जर वन में गिरी थी। जब अनन्तमती का कहीं पता नहीं लग सका, तब सेठ प्रियदत्त और सेठानी अंगवती उसके वियोग से बहुत ही दुःखी हो जाते हैं। अब सेठ जी का मन किसी कार्य में नहीं लगता है, तब वे सभी के समझाने के अनन्तर भी तीर्थयात्रा के बहाने घर से निकल पड़ते हैं। उस समय कुटुम्ब के बहुत से लोग भी उनके साथ चल पड़ते हैं।

वे सम्मेदशिखर, पावापुरी आदि तीर्थों की वंदना करते हुए अयोध्या आ

जाते हैं। वहाँ पर अपने ससुराल में जिनदत्त साले के यहाँ ठहर जाते हैं। प्रियदत्त के मुख से जब अनन्तमती के हरे जाने का समाचार विदित होता है, तब सभी लोग दुःखी हो जाते हैं, पर वे बेचारे कर भी क्या सकते हैं!

प्रातः सेठ प्रियदत्त जिनमंदिर से पूजा करके घर जाते हैं और देखते हैं कि आँगन में बहुत ही सुन्दर चौक पूरा हुआ है, उस चौक को देखते-देखते उनके आँखों से अविरल अश्रुधारा बहने लगती है। वे जिनदत्त की भार्या से पूछते हैं–

''यह चौक किसने पूरा है?''

''कहिए, क्या कुछ कमी है इसमें और आपको इस चौक को देखते ही आखिर रोना क्यों आया?''

''बहन! ऐसा ही चौक मेरी पुत्री अनन्तमती बनाया करती थी। भला यह चौक किस कन्या ने बनाया है? मुझे बताओ तो सही!''

''यहाँ मंदिर में आर्यिका पद्मश्री जी ठहरी हुई हैं, उनके पास एक कन्या रहती है। मैंने प्रातः उसी को बुलाकर यह चौक पुरवाया है।''

सेठ प्रियदत्त शीघ्र ही आर्यिका जी के दर्शन हेतु चल पड़ते हैं, वहाँ पहुँचकर अपनी पुत्री अनन्तमती को देखकर अपनी छाती से लगाकर रोने लगते हैं। आर्यिका को समझते हुए देरी नहीं लगती है कि ये ही इस कन्या के पिता होंगे।

कुछ क्षण बाद वे आर्यिका को अपना परिचय देकर और उनकी आज्ञा प्राप्तकर कन्या को अपने स्थान पर ले आते हैं। आहारदान, भोजनपान आदि के बाद सेठ प्रियदत्त पुत्री को अपने पास बिठाकर उससे सारा वृत्तान्त पूछते हैं। उस समय उस घर के सभी लोग अनन्तमती के मुख से उसके ऊपर आये हुए संकटों को सुनकर स्तब्ध रह जाते हैं। सभी के मुख से यही शब्द निकलते हैं–

''बेटी अनंतमती! तू धन्य है, तेरी दृढ़ता भी धन्य है और धन्य है तेरा साहस, जो कि तूने शासन देवता के आसन को हिला दिया और उनके सहयोग से अपने निर्मल व्रत की रक्षा की।''

इधर पिता-पुत्री के मिलाप से घर में ही क्या, सारी अयोध्या नगरी में प्रसन्नता का वातावरण बन जाता है। जिनदत्त इस हर्षोपलक्ष्य में श्री जिनेन्द्रदेव की रथयात्रा निकालकर खूब धर्मप्रभावना करते हैं।

बाद में प्रियदत्त अपने घर चम्पापुर को जाने के लिए तैयार होते हैं, तब वे अनन्तमती पुत्री से भी घर चलने का आग्रह करते हैं किन्तु अनन्तमती कहती है–

''पूज्य पिताजी! मैंने इस छोटे से जीवन में ही जो भी संसार के दुःख देखे

हैं, उनके स्मरणमात्र से ही मेरा हृदय काँपने लगता है अतः अब बार-बार संसार में भ्रमण न करना पड़े, मुझे ऐसा ही पुरुषार्थ करना है। अब आप मुझे आर्यिका दीक्षा लेने की आज्ञा प्रदान कीजिए।''

पिताजी मोह से विह्वल हो दीक्षा लेने की अनुमति नहीं देना चाहते हैं, वे कहते हैं–

''बेटी! यह आर्यिका दीक्षा बहुत ही कठिन है, सदैव पैदल विहार करना, भूमि पर सोना, एक वस्त्रमात्र धारण करके गर्मी, सर्दी को सहन करना, डांस, मच्छर आदि के उपसर्ग झेलना और अनेक प्रकार के परीषह सहन करना, ये सब तेरे इस कोमल शरीर से कैसे हो सकता है? अतः बेटी! अभी कुछ दिन तुम मंदिर में रहकर अभ्यास करो, भले ही घर मत चलो किन्तु अभी दीक्षा की बात मत सोचो।'' अनन्तमती कहती है–

''पिताजी! जब मन में वैराग्य उत्पन्न हो जाता है और शरीर तथा आत्मा भिन्न-भिन्न है, शरीर जड़ है, आत्मा चेतन है, शुद्ध निश्चयनय से जो भी कष्ट होता है वह शरीर को होता है आत्मा को नहीं, आत्मा तो अमूर्तिक है, ज्ञानपुंज है, अशरीरी है और अनादिनिधन है, ऐसा भेद ज्ञान हो जाता है, तब इस जीव को दीक्षा के कष्ट, कष्ट नहीं प्रतीत होते हैं, प्रत्युत् उनमें वे परम समता का अनुभव करते हुए यह समझते हैं कि मेरा तो पूर्व संचित कर्मों का कर्जा चुक रहा है।अतः हे पिताजी! अब तो न मैं चम्पापुर ही चलूँगी और न मंदिर में रहकर अभ्यास ही करूँगी, मैं तो अब दीक्षा ही ग्रहण करूँगी, सो आप स्वयं दीक्षा दिलाकर ही जाइये।''

बहुत कुछ समझाने के बावजूद जब अनंतमती अपने दीक्षा के विचार से चलायमान नहीं हुई, तब सेठ प्रियदत्त भी अपने भावों को स्थिर करके उसकी बात मंजूर कर लेते हैं।

दीक्षा समारोह के अवसर पर अनन्तमती मोहजाल के समान ही अपने घुंघराले और भ्रमर के समान काले, ऐसे केशों का जब लोंच करती है, तब देखने वालों की आँखें बरबस ही बरसने लगती हैं। सभी लोग रोमांचित हो जाते हैं और अनन्तमती के वैराग्य की, साहस की प्रशंसा करते-करते नहीं अघाते हैं। सभी लोग एक स्वर से यही कहते हैं कि–

''धन्य है साहस! और धन्य है जीवन! अनन्तमती तुम एक महान सती हो, इस आर्यखण्ड की ही नहीं, प्रत्युत् विश्व की एक अद्वितीय नारी हो, धर्म की भूषण हो, तुम्हारी जय हो, जय हो।''

अनन्तमती आर्यिका बनकर पद्मश्री गणिनी के सानिध्य में रहती हुई घोराघोर तपश्चरण करती है। कभी महीने के उपवास के बाद पारणा करती है, तो कभी सिंहनिष्क्रीड़ित जैसे कठोर व्रतों का अनुष्ठान करती है, कभी स्वाध्याय में तत्पर हो ज्ञानामृत का पान करती है, तो कभी ध्यान में लीन हो आत्मा का चिन्तन करती है। कभी दिव्य धर्मोपदेश द्वारा जनता को सम्बोधन देती है, तो कभी तीर्थों की वंदना करके सातिशय पुण्योपार्जन करती है। जीवन भर वह आर्यिका व्रतों का पालन करते हुए अन्त में सल्लेखना व्रत ग्रहण कर लेती है। आयु के अंत में शरीर को छोड़कर बारहवें स्वर्ग में देव पर्याय को प्राप्त कर लेती है। चूँकि यह नियम है कि सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लेने के बाद स्त्रियों को पुनः स्त्री पर्याय नहीं मिलती है।

वहाँ स्वर्ग में उस देव के ऐश्वर्य का पार नहीं है। अनेक देव-देवांगनाएँ उसकी सेवा में रत हैं। यह अनंतमती का जीव देव पर्याय से च्युत होकर मनुष्य लोक में आकर पुरुष-पर्याय प्राप्त कर जैनेश्वरी दीक्षा लेकर निर्वाणधाम को प्राप्त करेगा।

अहो! पिता के द्वारा विनोद से दिलाया गया व्रत भी जब मनुष्य को देव बना देता है, तब जो नारियाँ भावपूर्वक गुरु से ग्रहण किये हुए व्रतों का दृढ़ता से पालन करती हैं, वे अवश्य ही पराधीन स्त्री पर्याय से छुटकारा पाकर परम्परा से शाश्वत सुख को प्राप्त कर लेती हैं।

ध्यान

माधुरी—माताजी! आज ध्यान की चर्चा जहाँ-तहाँ चलती रहती है, वह ध्यान क्या है? और उसके कौन-कौन से भेद हैं?

माताजी—एकाग्रचिन्तानिरोध होना अर्थात् किसी एक विषय पर मन का स्थिर हो जाना ध्यान है। यह ध्यान उत्तम संहनन वाले मनुष्य के अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त तक ही हो सकता है। इस ध्यान के आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ऐसे चार भेद होते हैं। उसमें आर्त वा रौद्र, ध्यान संसार के कारण हैं और **'परे मोक्षहेतूः''** सूत्र से धर्म, शुक्लध्यान मोक्ष के कारण हैं। धर्मध्यान चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सातवें तक होता है। धवला में तो दशवें गुणस्थान तक भी माना है और शुक्लध्यान तो उत्तम संहननधारी महामुनियों के तथा केवली भगवान के ही होता है।

इष्टवियोगज, अनिष्टसंयोगज, वेदनाजन्य और निदान ये चार भेद आर्तध्यान के हैं। ऐसे ही हिंसानन्द, मृषानन्द, चौर्यानन्द और परिग्रहानन्द ये चार भेद रौद्रध्यान के हैं। गृहस्थाश्रम में प्रायः आर्त्तध्यान चलता ही रहता है और कभी-कभी रौद्रध्यान भी हो जाया करता है।

इन अप्रशस्त ध्यानों को हटाने व घटाने के लिए ही धर्मध्यान किया जाता है। यद्यपि गृहस्थाश्रम में ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती है, जैसा कि श्री शुभचन्द्राचार्य ने कहा है कि ''आकाशपुष्प अथवा गधे के सींग हो सकते हैं किन्तु किसी भी देश या काल में गृहस्थाश्रम में ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती है[1]।' फिर भी इस धर्मध्यान की सिद्धि के लिए गृहस्थाश्रम में ध्यान का अभ्यास और भावना तो करनी ही चाहिए। श्रावक जो दान, पूजा, शील और उपवास इन चार क्रियाओं को अथवा देवपूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान इन षट्क्रियाओं को करते हैं, वह सब धर्मध्यान की भावना ही है।

आगे चलकर श्री शुभचन्द्राचार्य ने यह भी कहा है कि ''किन्हीं आचार्यों ने धर्मध्यान के असंयत सम्यग्दृष्टि, देशसंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत ऐसे चार स्वामी भी माने हैं।''[2]

अतः गृहस्थाश्रम की नाना चिन्ताओं में उलझे मन को कुछ विश्रान्ति देने के लिए श्रावकों को आज्ञाविचय आदि अथवा पिंडस्थ, पदस्थ आदि ध्यान का

1. ज्ञानार्णव, पृ. 67। 2. ज्ञानार्णव, पृ. 268।

अभ्यास अवश्य करना चाहिए। यद्यपि इन पिंडस्थ आदि ध्यान की सिद्धि कठिन है, तो भी प्रतिदिन किया गया अभ्यास, भावना, संतति और चिंतन इन नामों की सार्थकता को तो प्राप्त ही कर लेता है और कालान्तर में वही अभ्यास ध्यान की सिद्धि में सहायक बन जाता है।

माधुरी—धर्मध्यान के चार भेदों के क्या-क्या नाम हैं?

माताजी—धर्मध्यान के चार भेदों के आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय ऐसे नाम हैं।

जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित तत्त्व सूक्ष्म हैं, उनका नाना प्रकार के तर्क-कुतर्कों से खण्डन नहीं किया जा सकता है, आज्ञामात्र से ही वे ग्रहण करने योग्य हैं क्योंकि जिनेन्द्रदेव अन्यथावादी नहीं हैं। इस प्रकार आज्ञा को प्रमाण मानकर जो चिन्तवन होता है, वह आज्ञाविचय धर्मध्यान है।

अपने और पर के कर्मों के नाश के उपाय का चिन्तवन करना अथवा मैं इन दुःखी जीवों को दुःख से निकालकर उत्तम सुख में कैसे पहुँचा दूँ? इस प्रकार से चिन्तवन करना अपायविचय है।

कर्मों के उदय से होने वाले सुख-दुःख का विचार करना अथवा कर्मों के बंध, उदय, सत्त्व का चिन्तन करना विपाकविचय है।

तीन लोक के आधार का चिन्तवन करना, अधो, मध्य और ऊर्ध्व लोक के आकार व तत्संबंधी जीवों के दुःख-सुख का चिन्तवन करना संस्थानविचय है।

इस संस्थान विचय के पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ऐसे चार भेद होते हैं।

हाँ! पर पिंडस्थ ध्यान का किंचित् लक्षण बताया जा रहा है। इस ध्यान के अभ्यास के लिए ध्याता, ध्येय, ध्यान और ध्यान का फल इन चार बातों को समझ लेना चाहिए। प्रसन्नात्मा, भव्य जीव जो सम्यग्दृष्टि हैं, पापभीरूता आदि गुणों से सहित हैं, ऐसे चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सप्तम गुणस्थान तक के जीव धर्मध्यान के ध्याता होते हैं। पंचपरमेष्ठी, उनके वाचक अक्षर, दश धर्म व द्वादशांग के कोई भी वर्ण या पद ध्येय हैं और अपनी शुद्ध आत्मा भी ध्येय है। एक विषय पर मन का रोक लेना ध्यान है और उसका फल परम्परा से मोक्ष है।

इस ध्यान के लिए सबसे प्रथम मंदिर या पवित्र स्थान में जाकर विधिपूर्वक 'देववंदना' करनी चाहिए अनन्तर योगमुद्रा से बैठकर निराकुल भाव रखते हुए आगे कथित पिण्डस्थ ध्यान के अन्तर्गत पाँच धारणाओं का क्रम से चिंतवन करना चाहिए।

पिण्डस्थध्यान—पिंड—शरीर में स्थित आत्मा का ध्यान करना, पिण्डस्थ ध्यान है। इसके लिए पाँच धारणाएँ होती हैं—पार्थिवी, आग्नेयी, श्वसना, वारुणी और तत्त्व-रूपवती।

1. पार्थिवीधारणा—स्थिरयोग मुद्रा से बैठकर ध्यान करना कि स्वयंभू-रमणसमुद्रपर्यन्त , मध्यलोकप्रमाण विस्तृत एक क्षीर समुद्र है, यह निःशब्द और कल्लोल रहित है। इसके बीच में एक लाख योजन विस्तृत जम्बूद्वीप प्रमाण एक हजार पत्तों वाला सुवर्णमयी एक कमल खिला हुआ है। इसकी कर्णिका ऊपर को उठी हुई सुमेरु पर्वत के समान है। उस कर्णिका पर श्वेतवर्ण का एक ऊँचा सिंहासन है। उस पर मैं बैठकर अपनी आत्मा का ध्यान कर रहा हूँ, यह पार्थिवीधारणा है।

2. आग्नेयीधारणा—पुनः उसी तरह बैठे हुए ऐसा चिंतवन करना चाहिए कि मेरे नाभिस्थान में सोलह पत्तों वाला खिला हुआ श्वेत कमल है। उसकी कर्णिका पर 'र्हं' ऐसा बीजाक्षर लिखा हुआ है और पूर्व दिशा के क्रम से दलों पर "अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः" ये सोलह स्वर लिखे हुए है। इसी कमल के ठीक ऊपर हृदय स्थान में आठ पाँखुड़ी वाला काले वर्ण का एक कमल है, जिसके दलों पर क्रम से 'ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अंतराय ये आठ कर्म लिखे हुए हैं। यह कमल औंधे-मुख वाला है पुनः ऐसा चिंतवन करना कि नाभिकमल की कर्णिका के 'र्हं' बीजाक्षर के रेफ से धुआं निकल रहा है, पुनः उसमें से अग्नि के स्फुलिंगे निकलने लगे। धीरे-धीरे अग्नि की लौ ऊपर उठी और उसमें से लपटें निकलने लगीं। वे लपटें ऊपर के कमल को जलाने लगीं। धीरे-धीरे वह अग्नि की लौ मस्तक के ऊपर पहुँच गई और ऊपर से उसकी एक लकीर दाईं ओर को और एक लकीर बाईं ओर को निकलकर आ गई। इन दोनों लकीरों के नीचे आकर दोनों कोनों को मिलाकर त्रिकोणाकार अग्निमण्डल बना दिया। अब अन्दर में धधकती अग्नि अन्दर के कमल आदि को जला रही है और बाहर की अग्नि औदारिक शरीर को भस्म कर रही है। इस त्रिकोणाकार में तीनों लकीरों में 'ररं रं रं' ऐसे अग्नि बीजाक्षर लिखे हुए हैं और तीनों कोणों में स्वस्तिक बना हुआ हैतथा स्वस्तिक के पास भीतरी भाग में 'ॐ रं' ऐसे बीजाक्षर लिखे हुए हैं। इस त्रिकोणाकार अग्निमंडल की अग्नि को अब जलाने को कुछ शेष नहीं रहा तो वह शान्त हो जाती है और राख का पुंज इकट्ठा हो जाता है, यह आग्नेयी धारणा हुई।

3. श्वसनाधारणा—पुनः ऐसा चिंतवन करना कि आकाश में चारों तरफ से बहुत जोर से हवा चलने लगी जो कि मेरु को भी कँपाने में समर्थ है, ऐसा यह हवा का समूह एक गोलाकार वायुमंडल बन गया है। इस मंडल में 'स्वाय-स्वाय' ऐसे वायुमंडल के बीजाक्षर लिखे हुए हैं। यह वायुमंडल आत्मा के ऊपर एकत्रित हुए सारे भस्मपुंज को उड़ा रहा है। तत्पश्चात् वह वायु स्थिर हो गई है, ऐसा चिंतवन करना श्वसना या वायवी धारणा है।

4. वारुणीधारणा—पुनः ऐसा सोचना कि आकाश में चारों तरफ मेघ छा गये हैं, बिजली चमक रही है, इन्द्रधनुष दिख रहा है, बादल गरजने लगे। देखते ही देखते मूसलाधार वर्षा चालू हो गई है। इस जल का अपने ऊपर अर्धचन्द्राकार मंडल बन गया है और उससे अमृतमय जल की सहस्रधाराएँ बरसती हुई मेरी आत्मा के ऊपर लगे हुए कर्म की भस्म को प्रक्षालित कर रही हैं। इस वरुणमंडल में 'पं पं पं' ऐसे बीजाक्षर लिखे हुए हैं, वह वारुणीधारणा हुई।

5. तत्त्वरूपवती धारणा—तत्पश्चात् ऐसा चिंतवन करना कि मेरी आत्मा सप्तधातु से रहित, पूर्णचन्द्र के सदृश प्रभावशाली सर्वज्ञसमान हो गई है। अब मैं अतिशयों से युक्त और कल्याणकों की महिमा से समन्वित होकर देव, दानव, धरणेन्द्र आदि से पूजित हो गया हूँ, ऐसा ध्यान करना तत्त्वरूपवती धारणा है।

इस पिंडस्थ ध्यान का निश्चल अभ्यास करने वाले योगीजन मोक्ष-सुख को भी प्राप्त कर लेते हैं। इस ध्यान के प्रभाव से शाकिनी, ग्रह, भूत, पिशाच आदि कुछ भी उपद्रव करने में समर्थ नहीं होते हैं।

माधुरी—इस ध्यान में पाँच धारणाओं में बहुत सा विषय आ जाने से इसका अभ्यास दुष्कर प्रतीत होता है अतः किसी एक पद या एक विषय के ध्यान को बताइये!

माताजी—आगे के पदस्थ ध्यान में किसी एक पद या मंत्र के ध्यान का उपदेश है किन्तु इस पिण्डस्थ को उसके पहले क्यों रखा है? यह भी समझने की बात है। वास्तव में गृहस्थाश्रम के अनेकों प्रपंचों में उलझे हुए मन को कोई भी एक मंत्र पर किंचित् क्षण के लिए भी टिका नहीं सकता है और मन को खाली बैठना भी आता नहीं, अतः वह इधर-उधर के चक्कर में ही पुनः घूमने लगता है अतः उसके लिए जितनी अधिक सामग्री दी जायेगी, उतना ही अच्छा है। उतनी देर तक तो कम से कम वह बाहर के विषयों से अपने को हटाकर इन धारणाओं के चिंतन में ही उलझेगा सो तो अच्छा ही है। यदि एक पद पर ही मन को स्थिर करना सरल होता तो आचार्य पहले पदस्थ को कहकर फिर पिण्डस्थ को कहते, इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पिण्डस्थ ध्यान का ही पहले अभ्यास करना चाहिए। अनन्तर अभ्यास के परिपक्व हो जाने पर पदस्थ ध्यान का भी अभ्यास करना चाहिए।

पदस्थध्यान—पवित्र मंत्रों के अक्षर पदों का अवलम्बन लेने वाला ध्यान पदस्थध्यान है। इसके बहुत भेद हो जाते हैं।

1. 'ॐ' यह प्रणव मंत्र है, यह पंचपरमेष्ठीवाचक मंत्र समस्त वाङ्मय-द्वादशांग श्रुत को प्रकाशित करने में दीपक के समान है। इसको हृदयकमल की कर्णिका पर या ललाट आदि पवित्र स्थानों में स्थापित कर इसका श्वेत वर्ण के समान चिंतवन करना चाहिए।

2. हृदय में आठ दल के कमल की कर्णिका पर 'णमो अरिहंताण' पूर्वादि दिशाओं के दलों पर 'णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं' इन चार पदों को तथा विदिशा के दलों पर क्रम से 'सम्यग्दर्शनाय नमः, सम्यग्ज्ञानाय नाम, सम्यक्चारित्राय नमः, सम्यक्तपसे नमः' इन चार पदों को स्थापित करके, इन नव मंत्र पदों का ध्यान करना चाहिए।

3. 'ह्रीं' इस बीजाक्षर में ऋषभदेव आदि चौबीस तीर्थंकर स्थित हैं, वे अपने-अपने वर्णों से युक्त हैं, उनका ध्यान करना चाहिए।

जाप्य—यदि ध्यान करने की क्षमता न हो, तो महामंत्र आदि मंत्रों का जाप करना चाहिए। जप के वाचिक, उपांशु और मानस ऐसे तीन भेद होते हैं। वाचिक जप में मंत्र के शब्दों का उच्चारण स्पष्ट रहता है। उपांशु में शब्द भीतर ही भीतर कंठ स्थान में गूंजते रहते हैं बाहर नहीं निकल पाते हैं किन्तु मानस जप में बाहरी और भीतरी शब्दोच्चारण का प्रयास रुक जाता है, हृदय में ही मंत्राक्षरों का चिंतवन चलता रहता है। यह मानस जप ही एकाग्रचिंतानिरोधरूप होने से ध्यान का रूप ले लेता है।

वाचिक जाप से सौ गुणा अधिक पुण्य उपांशु जाप से होता है और उससे हजार गुणा पुण्य मानस जाप से होता है।

महामंत्र के पाँच पदों के उच्चारण में तीन श्वासोच्छ्वास होते हैं अतः 9 बार महामंत्र के जाप में 27 उच्छ्वास हो जाते हैं। मुनियों की देववंदना आदि क्रियाओं में इन उच्छ्वासों से ही गणना बताई गई है। इस विधि से जाप करने में सहज ही प्राणायाम का अभ्यास हो जाता है।

रूपस्थध्यान—अरहंत भगवान के स्वरूप का चिंतवन करना रूपस्थ ध्यान है। इसमें समवसरण में स्थित अर्हंत परमेष्ठी का ध्यान किया जाता है।

रूपातीत—सिद्धों के गुणों का चिंतवन करते हुए लोकाग्र में स्थित सिद्धों का ध्यान करना रूपातीत ध्यान है अथवा सिद्ध का ध्यान करना रूपातीत ध्यान है अथवा सिद्ध का ध्यान करते हुए अपनी आत्मा को सिद्ध समझ कर उसी में तन्मय हो जाना रूपातीत ध्यान है।

इन ध्यानों के अभ्यास से योगीजन निर्विकल्प ध्यान में पहुँचने की योग्यता प्राप्त कर लेते हैं।

माधुरी—सम्यग्दृष्टि को तो मात्र अपनी शुद्ध आत्मा का ही ध्यान करना चाहिए क्योंकि पर का अवलंबन तो अनादिकाल से लेते ही आये हैं!

माताजी—यदि असंयत सम्यग्दृष्टि को गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी सविकल्प अवस्था में शुद्धात्मा का ध्यान हो जाता, तो आचार्य सप्तम गुणस्थान तक इन ध्यानों को क्यों मानते? बल्कि ज्ञानार्णव में तो स्पष्ट कहा है कि मुख्य रूप से इस ध्यान के ध्याता अप्रमत्त मुनि ही हैं, इसके नीचे के जीव गौणरूप से हैं।

शुद्धात्मा का ध्यान तो सप्तम गुणस्थान में निर्विकल्प अवस्था में ही शुरू होता है चूँकि वहीं से शुद्धोपयोग की शुरूआत है किन्तु सविकल्प अवस्था तक तो पंचपरमेष्ठी आदि के या इन धारणाओं के अथवा मंत्र पद आदि के आश्रय से ही ध्यान हो सकता है यह नियम है। हाँ! शुद्धात्म तत्त्व का श्रद्धान करना और उसकी भावना करना तो ठीक ही है किन्तु उसे ध्यान नाम नहीं दे सकते हैं। यही बात नियमसार की गाथा 154 के आधार से टीकाकार के शब्दों में कही है कि "पंचमकाल में हीन संहनन में ध्यानमय प्रतिक्रमण आदि शक्य नहीं है और इस काल में शुद्धात्म तत्त्व का ध्यान भी संभव नहीं है अतः उस अवस्था को प्राप्त करने तक आत्मतत्त्व का श्रद्धान ही करना चाहिए।[1]

निष्कर्ष यह निकला कि पिंडस्थ ध्यान के द्वारा आत्मा को शुद्ध करने का पुरुषार्थ करते हुए पदस्थ आदि ध्यान के द्वारा शुद्ध हुए और साधक ऐसी आत्माओं का तथा उनके नाम के पदों का आश्रय लेकर ध्यान करना चाहिए।

महिलाओं के कर्तव्य

संसार की दृष्टि में स्त्री और पुरुष दो अंग हैं। जैसे कुंभकार के बिना चाक से बर्तन नहीं बन सकते हैं अथवा कृषक के बिना पृथ्वी से धान्य की फसल नहीं हो सकती है उसी प्रकार स्त्री-पुरुष दोनों के संयोग के बिना सृष्टि की परम्परा नहीं चल सकती है। इतना सब कुछ होते हुए भी महिलाओं का दायित्व कुछ विशेष ही है। वह क्या है? उसी पर कुछ प्रकाश डाला जाता है—

आज जब घर में कन्या का जन्म होता है, तब घर वाले ही क्या, अड़ोस-पड़ोस के लोग भी यही सोचने लगते हैं कि यह क्या बला आ गई? इसका मूल कारण है दहेज। इस दहेज प्रथा ने कितने अनर्थों को जन्म दिया है, यह सब प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहा है। एक समय था, जब कन्या को सबसे श्रेष्ठ रत्न और उनके माता-पिता को सबसे श्रेष्ठ रत्नाकर माना जाता था। देखिए पूर्वाचार्यों के वाक्य—

"कन्यारत्नात्परं नान्यद्। कन्यारत्न से बढ़कर अन्य कोई रत्न नहीं है। तथा-रत्नाकरत्वदुर्गर्वमम्बुधिः श्रयते वृथा।"

यह समुद्र अपने-"रत्नाकरत्व" नाम के खोटे अभिमान को व्यर्थ ही धारण कर रहा है क्योंकि जहाँ इस कन्यारत्न ने जन्म लिया है, ऐसे उसके माता-पिता में ही रत्नाकरपना शोभित होता है अर्थात् कन्यारत्न के जन्मदाता माता-पिता ही सच्चे रत्नों की खान—रत्नाकर होते हैं।

यह बात सुलोचना के स्वयंवर के प्रसंग पर श्री गुणभद्राचार्य ने कही है। वास्तव में जहाँ एक कन्या के स्वयंवर के समय करोड़ों राजा-महाराजा आकर उपस्थित होते थे और सबके मन में यही आशा रहती थी कि यह कन्या मेरे गले में वरमाला डाले। इस विषय में सुलोचना, सीता, द्रौपदी आदि के प्रत्यक्ष उदाहरण आबाल-गोपाल प्रसिद्ध ही हैं लेकिन आज सर्वथा इसके विपरीत स्थिति देखने को मिलती है। कन्याओं के जन्म को हीन दृष्टि से देखने का मूल कारण जो दहेज है, उसका कैसे निर्मूलन किया जाये? इस पर महिलाओं को सक्रिय कदम उठाना चाहिए। महिलाएँ ही महापुरुषों की जननी हैं। तीर्थंकर जैसे नर-रत्नों को भी जन्म देने का सौभाग्य महिलाओं ने ही प्राप्त किया है। यही कारण है कि महामुनियों ने भी उनकी प्रशंसा में बहुत कुछ कहा है। श्री मानतुंगाचार्य के शब्द स्पष्ट हैं—

स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्।
नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता।।
सर्वा दिशो दधति भानि सहस्ररश्मिं।
प्राच्येव दिग्जनयति स्फुरदंशुजालम्।।

सैकड़ों स्त्रियाँ सैकड़ों ही पुत्रों को जन्म देती हैं किन्तु हे भगवन्! आप जैसे पुत्र को जन्म देने वाली माता विरली ही होती हैं। सो ठीक ही है क्योंकि सभी दिशाएँ नक्षत्रों को तो जन्म दे सकती हैं किन्तु हजारों किरणों से देदीप्यमान ऐसे सूर्य को एक पूर्व दिशा ही जन्म देती है।

पातिव्रत्य धर्म में सीता और मैनासुन्दरी के उदाहरण प्रसिद्ध ही हैं। साथ ही पति को उन्मार्ग से हटाकर सन्मार्ग में लगाने के लिए रानी चेलना का पुरुषार्थ आज की महिलाओं के लिए एक प्रेरणास्पद उदाहरण है।

प्रायः आजकल महिलाएँ पति को प्रसन्न रखने के लिए उनके साथ क्लबों में घूमना व स्वच्छंद प्रवृत्ति करना ही अपना कर्तव्य समझ लेती हैं। कोई-कोई महिलाएँ तो पति के साथ रात्रिभोजन ही क्या, मदिरापान आदि भी करने लगती हैं। भोगों में ही सुख मानने वाली कुछ महिलाएँ तो पति को दुर्व्यसनों से नहीं रोक पाती हैं किन्तु धर्मकार्य से गुरुओं के पास जाने से अवश्य रोक देती हैं। आज कितने ही ऐसे उदाहरण देखने में आते रहते हैं।

सचमुच में ऐसी महिलाओं को ही आचार्यों ने दुर्गति का द्वार बतलाया है। यथा

''शरणमशरणं वो बंधवो बंधमूलं।
चिरपरिचितदारा द्वारमापद्गृहाणाम्।।

जिस घर को शरण समझते हैं वह अशरण हैं, बन्धुवर्ग बंधन के मूल कारण हैं और चिरकाल से परिचित भी स्त्रियाँ आपत्ति के घर का द्वार हैं। ये वाक्य श्रीगुणभद्रसूरि के हैं किन्तु शीलवती महिलाएँ इससे विपरीत सन्मार्गदर्शिका भी देखी जाती हैं।

महिलाओं का अपनी संतान के प्रति भी क्या कर्तव्य है? वास्तव में जो महिलाएँ सुशिक्षित हैं, वे अपनी संतान को सुयोग सांचे में डाल सकती हैं क्योंकि माताओं की गोद ही बच्चों के लिए प्रारंभिक पाठशाला है। माताएँ बच्चों को प्रारंभ से ही लाड़-प्यार के साथ धर्म की घूँटी पिला-पिलाकर सुसंस्कारों से हृष्ट-पुष्ट बना सकती हैं। जब बच्चे कुछ समझने और बोलने लग जाएँ तब उन्हें महामंत्र सिखाना, अच्छे-अच्छे धार्मिक भजनों की पंक्तियाँ रटाना, जैसे-जैसे वे 3-4 वर्ष

के होते जाएँ, उन्हें छोटी-छोटी शिक्षास्पद कथाएँ सुनाना, धार्मिक पाठशालाओं में कुछ न कुछ धर्म शिक्षा दिलाते रहना ही बच्चों को सुसंस्कारित करना है। किशोरावस्था में उन्हें कुसंगति से बचाना, मंदिरों में जाने की प्रेरणा देते रहना, गुरुओं के पास ले जाना, तीर्थयात्राओं की वंदना कराते रहना, उनके जीवन में सद्विचारों के बीजारोपण करना है। खासकर ग्रीष्मावकाश में बालक-बालिकाओं को गुरुओं के पास धर्म शिक्षा दिलाना, धार्मिक पढ़ाई में शिक्षण शिविरों में भाग दिलाना, छुट्टी के दिनों का बहुत बड़ा सदुपयोग है।

युवकों को धर्म कथाओं के माध्यम से चारित्रवान बनाना चाहिए। मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र, जंबूकुमार, अकलंक, निकलंक आदि महापुरुषों के आदर्श बालकों के समक्ष पुनः-पुनः कहते रहने से उनमें वैसे बनने के संस्कार सहज ही हो सकते हैं।

कन्याओं के शील की सुरक्षा कैसे रहे? इस पर भी उनके माता-पिता को सावधान रहना चाहिए। छोटी-छोटी बालिकाओं को कुसंगति से बचाना, युवक नौकरों को घर में न रखना, एक साथ लड़के-लड़कियों को न पढ़ाना, युवक अध्यापक से न पढ़ाना, अश्लील उपन्यास पढ़ने से, अश्लील सिनेमा आदि देखने से दूर रखना चाहिए। प्राचीनकाल में भी राजघरानों में तथा सभ्य घरानों में वृद्ध कंचुकी नौकर रहते थे जिससे कन्याओं की ही नहीं बल्कि युवती महिलाओं के भी शील की सुरक्षा बनी रहती थी। सहशिक्षा की प्रणाली कथमपि श्रेयस्कर नहीं है उसके फलस्वरूप कुछ न कुछ अघटित घटनाएँ होती ही रहती हैं। किशोरावस्था की बालिकाओं को यदि युवक अध्यापक पढ़ाते हैं, तो प्रायः उनके शील का अपहरण हो जाया करता है। अश्लील कहानियों और चलचित्रों का कुप्रभाव कोमल और सरल मस्तिष्क को विकृत बनाये बगैर नहीं रहता है।

कन्या विवाह के बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर माता बनती है। जिस प्रकार कोयल की खान से कोयला और हीरे की खान से हीरा निकलता है उसी प्रकार अच्छे संस्कारों से संस्कारित शीलवती माता से अच्छे-अच्छे नररत्न और कन्या रत्नों का जन्म होता है। दुराचारिणी माता की संतान कभी भी अच्छी नहीं मानी जा सकती है। कुछ प्राकृतिक सृष्टि की व्यवस्था ही ऐसी है। चक्रवर्ती, अर्धचक्री आदि महापुरुषों के अनेक रानियाँ होती हैं, उन सब रानियों की संतान एक पिता की ही होती है किन्तु यदि कोई महिला अनेक पुरुष से समागम करती हो, तो वह स्वयं यह निर्णय नहीं दे सकती है कि इस मेरे पुत्र का पिता कौन है? यही

कारण है कि अपने यहाँ भारतीय संस्कृति में महिलाओं के लिए एक पति ही माना गया है। वैसे यह विषय अतिसूक्ष्म है। विशेष जिज्ञासु महिलाओं को अपने धर्मगुरु व मुनियों के पास में इस विषय को समझना चाहिए इसीलिए पुनर्विवाह, विधवा विवाह, विजातीय विवाह आदि परम्पराएँ आर्य संस्कृति से बाह्य हैं।

शीलवती महिलाएँ मनुष्यों से ही नहीं, देवों से भी पूज्यता प्राप्त कर लेती हैं। शील के प्रभाव से अग्नि का जल हो जाना, सर्प का हार हो जाना, वज्र के फाटक खुल जाना आदि उदाहरण मात्र कल्पनाएँ ही नहीं हैं, आज भी यदि कोई महिला अपने शील को सुरक्षित रखकर अग्नि को जल बनाना चाहे तो सहज सफल हो सकती है। आत्मविश्वास बहुत बड़ी चीज है। यह नियम है कि पंचमकाल के अंत तक भी शीलवती महिलाएँ रहेंगी और आगे छठे काल में भी उनकी परम्परा चल सकेगी पुनरपि आने वाले चतुर्थकाल में उन्हीं शीलव्रती महिलाओं के वंश में तीर्थंकर आदि महापुरुष जन्म लेवेंगे, यह तो सब एकदेश ब्रह्मचर्य अणुव्रत की महत्ता है। ऐसी ब्रह्मचर्याणुव्रत पालन करने वाली महिलाएँ गृहस्थाश्रम में रहकर भी देवपूजा, गुरुपासना, स्वाध्याय आदि करते हुए धर्म की परम्परा को अक्षुण्ण रखती हैं अनन्तर सल्लेखना से मरण करके सम्यक्त्व और अणुव्रत के प्रभाव से स्त्रीलिंग को छेदकर सौधर्म आदि स्वर्ग में देव हो जाती हैं। कालान्तर में पुरुषलिंग प्राप्तकर जैनेश्वरी दीक्षा लेकर मोक्ष प्राप्त कर लेती हैं।

जो महिलाएँ पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत पालन करती हैं, व्रत प्रतिमा आदि व्रतों से अपने शरीर को अलंकृत करती हैं, क्षुल्लिका अथवा आर्यिका बन जाती हैं, वे महिलाएँ ब्राह्मी-सुन्दरी के समान सर्वजनों में पूज्य हो जाती हैं। चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण आदि महापुरुष भी उनकी पूजा करते हैं, उन्हें आहारदान आदि देकर अपने को धन्य मानते हैं। इंद्र भी उनके चरणों की वंदना करते हैं। इस प्रकार से वे स्त्रियाँ सर्वश्रेष्ठ आर्यिका पद में तीनों लोकों में वंद्य हो जाती हैं।

आज भी चंदनबाला, अनन्तमती जैसी कन्याएँ हैं। सीता, मैना, मनोरमा जैसी पतिभक्ता हैं, चेतना जैसी कर्त्तव्यपारायणा हैं और ब्राह्मी-सुन्दरी के पदचिन्हों पर चलने वाली आर्यिकाएँ हैं, हमारी बहनों को उनसे शिक्षा लेनी चाहिए। प्रतिवर्ष एक माह नहीं तो कम से कम एक सप्ताह आर्यिका माताओं के सानिध्य में जाकर उनसे कुछ सीखना चाहिए और स्त्रीसमाज में बढ़ती हुई दहेज प्रथा, सहशिक्षा आदि कुरीतियों को दूर करने में अपने समय को, शक्ति को और धन को लगाना चाहिए।

चौबीस तीर्थंकरों की सोलह जन्मभूमियों की नामावली

महानुभावों,

अपने नगर के जिनमंदिरों में चौबीस तीर्थंकरों की सोलह जन्मभूमियों के नाम निम्नानुसार लिखवाएं एवं इन तीर्थों की यात्रा करके पुण्यलाभ प्राप्त करें।

1. अयोध्या (फैजाबाद-उ.प्र.)	–श्री ऋषभदेव भगवान
	–श्री अजितनाथ भगवान
	–श्री अभिनंदननाथ भगवान
	–श्री सुमतिनाथ भगवान
	–श्री अनंतनाथ भगवान
2. श्रावस्ती (बहराइच-उ.प्र.)	–श्री संभवनाथ भगवान
3. कौशाम्बी (उ.प्र.)	–श्री पद्मप्रभु भगवान
4. वाराणसी (उ.प्र.)	–श्री सुपार्श्वनाथ भगवान
	–श्री पार्श्वनाथ भगवान
5. चन्द्रपुरी (वाराणसी) उ.प्र.	–श्री चन्द्रप्रभु भगवान
6. काकन्दी (देवरिया नि.-गोरखपुर) उ.प्र.	–श्री पुष्पदंतनाथ भगवान
7. भद्रिकापुरी, इटखोरी (चतरा-झारखंड)	–श्री शीतलनाथ भगवान
8. सिंहपुरी (सारनाथ) उ.प्र.	–श्री श्रेयांसनाथ भगवान
9. चम्पापुरी (भागलपुर-बिहार)	–श्री वासुपूज्यनाथ भगवान
10. कम्पिलपुरी (फर्रूक्खाबाद-उ.प्र.)	–श्री विमलनाथ भगवान
11. रत्नपुरी (फैजाबाद-उ.प्र.)	–श्री धर्मनाथ भगवान
12. हस्तिनापुर (मेरठ-उ.प्र.)	–श्री शांतिनाथ भगवान
	–श्री कुन्थुनाथ भगवान
	–श्री अरनाथ भगवान
13. मिथिलापुरी	–श्री मल्लिनाथ भगवान
	–श्री नमिनाथ भगवान
14. राजगृही (नालंदा-बिहार)	–श्री मुनिसुव्रतनाथ भगवान
15. शौरीपुर (बटेश्वर-उ.प्र.)	–श्री नेमिनाथ भगवान
16. कुण्डलपुर (नालंदा-बिहार)	–श्री महावीर भगवान

–निवेदक –

अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थंकर जन्मभूमि विकास कमेटी

प्रधान कार्यालय –**जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र.,** फोन नं.-01233-280184, 292943